

ऋ श्रीश्रीगुरु-नौगङ्गी जयतः ॥

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरथोऽजे ।

धर्मः पुंसां विवक्षेन कथम् ॥  
पुंसां विवक्षेन कथम् ॥

विष्णुपद्मेन विदि रति अम् पूर्व लिंगं विष्णुम् ॥



अहेतुक्यप्रतिहता यवात्मासुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक । सब धर्मों का अपेक्षा रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।  
भक्ति अधोक्षण की अहेतुकी विष्णुशूल्य अति मगलदायक ॥ किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, अम व्यर्थ सभी, केवल बन्धनकर ॥

वर्ष ३ }      गौराब्द ४७१, मास—माघ ई, वार—प्रद्युम्न } संख्या ८  
} मंगलवार, ३० पीप, सम्वत् २०१४, १४ जनवरी १९५८ }      }

## श्रीमनःशिक्षा

[ श्रीरघुनाथदास-गोस्वामि-विरचिता ]

श्रीश्रीगान्धर्वा-गिरिधराभ्यां नमः

गुरौ गोष्ठे गोष्ठालयिषु सुजने भूसुरगणे स्वमन्त्रे श्रीनाम्नि ब्रजनवयुवद्वद्व-शरणे ।  
सदा दंभं हित्वा कुरु रतिमूर्त्त्वामतिरामये स्वान्त्र्यातिशचदुभिरभियाचे धृतपदः ॥१॥  
न धर्मं नाधर्मं श्रुतिगण्यनिरुक्तं किलकुरु वृजे राधाकृष्ण-प्रनुर परिचयांमिह तनु ।  
शचीस्तनुं नम्दीशवरपतिसुतर्ष्वे गुरुवरं मुकुन्दं प्रेषत्वे स्मर परमजलं ननु मनः ॥२॥  
यदीच्छेरावासं ब्रज-भूवि सरागं प्रतिजनु-युवद्वन्दं तच्छेत् परिचरितुमारादभिलेपः ।  
स्वरूपं श्रीरूपं सगणमिह तस्याद्यजमपि स्फूटं प्रेमना नित्यं हमर नम तदा त्वं श्रणु मनः ॥३॥  
असद्वार्ता-वेश्या विसूज मतिसर्वस्वहरणीः कथा मुक्तिव्याज्ञा न श्रणु किल सर्वात्मगिलनीः ।  
अपि त्यकर्वा लक्ष्मीपतिरतिमितो द्योमनयनी ब्रजेराधाकृष्णी स्वरति मणिदौ त्वं भज मनः ॥४॥  
असच्चेष्टा-कष्टपद-विकट-पाशाल्लिभिरिह प्रकामं कामादि-प्रकट-पथपालिद्यतिकरैः ।  
गवे वदा हन्येऽहमिति वकभिद्वर्मपगणे कुरु त्वं कुलकारानवति स यथा त्वां मन इतः ॥५॥

इरे चेतः प्रोद्यत्कपट-कुटिनाटी-भर-वर चरम्भूते स्नात्वा दहसि कथमात्मानमपि माम् ।  
 सदा त्वं गान्धर्वा-गिरिधरपद-प्रेमविज्ञप्ति सुधाम्भोधी स्नात्वा स्वमपि नितरां मान्च सुख्य ॥६॥  
 ग्रन्थिष्ठाशा छाटा इवपचरमयी मे हृदि नदेत् कथं साधुः प्रेमा स्पृशति शुचिरेतज्जनु मनः ।  
 सदा त्वं सेवस्व प्रसुद्यित-सामन्तमतुलं यथा तां निष्काश्य त्वरितमिह तं वेशयति सः ॥७॥  
 यथा दुष्टत्वं मे दवयति शठस्यापि कृपया यथा महां प्रेमासृतमपि ददात्युज्ज्वलमसौ ।  
 यथा श्रीगान्धर्वा-भजन-विधये प्रेरयति मां तथा गोष्ठे काक्षा गिरिधरमिह त्वं भज मनः ॥८॥  
 मदीशानाथत्वे ब्रजविपिनचन्द्रं ब्रजवनेश्वरीं मक्षाथत्वे तदतुलसखीत्वे तु लक्षिताम् ।  
 विशाखां शिच्छाली-वितरण-गुरुत्वे प्रियसरो- गिरीन्द्रीं तत्प्रेषा लक्षितरतिदत्त्वे स्मर मनः ॥९॥  
 रति गौरीलीके अपि तपति सौन्दर्यकिरणैः शची-लक्ष्मी सत्याः परिभवति सौभाग्यवलनैः ।  
 वशीकारैश्चन्द्रावलीमुख-नवीन ब्रज-सतीः लिपयाराद् या तां हरिदयित-राघां भज मनः ॥१०॥  
 समं श्रीरूपेण स्मरविवश-राघागिरिभूतोऽप्येति साक्षात्सेवा-लभन-विधये लद्वग्न्यायुजोः ।  
 लद्विज्यारूपा-ध्यान-अवण्य-नति-पञ्चासृतमिदं वयनित्या गोकर्णं नमनुदिनं त्वं भज मनः ॥११॥  
 मनः शिच्छादैकादशकवरमेतन्मधुरया गिरा गायत्युच्छैः समधिगत-सर्वार्थतत्त्वे यः ।  
 सयूथ-श्रीरूपानुग इह भवन् गोकुल वने जनो राधाकृष्णातुल-भजनरत्नं स लभते ॥१२॥

### अनुवादः—

भाई मन ! मैं तुम्हारी सुशामद करता हूँ, तुम्हारे पैरोंको पकड़ कर प्रार्थना करता हूँ, तुम दम्भ क्षोडकर श्रीगुरुदेव, श्रीब्रजधाम, ब्रजवासीजन, सज्जनबुन्द, विप्रगण, इष्टमंत्र, श्रीकृष्णनाम और श्रीराधा-कृष्णके चरणोंमें हड़ अनुराग रखो ॥१॥

हे मन ! तुम न तो वेद-विहित धर्मका अनुष्ठान करो और न वेद-विरुद्ध अधर्मका आचरण ही । बलिक ब्रजमें वास कर श्रीश्रीराधा-कृष्णकी स्तूप प्रेमपूर्वक सेवा करो एवं श्रीशचीनन्दन गोरहरिको साक्षात् श्रीब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण तथा श्रीगुरुदेवको श्रीकृष्णका अत्यन्त प्रियजन जान कर प्रातिपूर्वक निरन्तर स्मरण करो ॥२॥

हे मन ! यदि तुम जन्म-जन्म तक ब्रजभूमिमें प्रीतिपूर्वक वास करना चाहते हो और यदि श्रीराधा-कृष्णकी साक्षात् सेवा प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखते हो तो मेरी कही सुनो—तुम श्रीस्वरूप गोस्वामी, गोष्ठीके साथ श्रीरूप गोस्वामी तथा उनके अप्रज श्रीसनातन गोस्वामी प्रभुको निरन्तर प्रेमपूर्वक स्मरण करो ॥३॥

हे मन ! तुम असत्-कथा रूपिणी वेश्याका परित्याग कर दो, क्योंकि वह सद्बुद्धिरूप सब कुछ अपहरण कर लेती है । उसी प्रकार मुक्ति रूपिणी शेरनीकी कथा भी न सुनो, क्योंकि यह तो सारे शरीरको ही निगल जाती है । इतना ही नहीं तुम लक्ष्मीनारायणकी भक्तिको भी—जो परब्रह्ममें वैकुण्ठगति देनेवाली है—परित्याग कर ब्रजमें अपने प्रेमरत्नको प्रदान करनेवाले श्रीश्रीराधा-कृष्णकी आराधना करो ॥४॥

हे मन ! इस संसारमें प्रकटरूपमें लूटमार करनेवाले काम, क्रोध, लाभादि शत्रु मेरे गलेको विषय-भोग आदि अनित्य सुखकी कामनारूप भयंकर क्लेशदायक रज्जु-समूहसे जकड़ कर मुझे खूब पीट रहे हैं—ऐसा कहकर जोरसे श्रीनन्दनन्दन श्रीकृष्णके वत्सरक्षको—भक्तोंको अत्यन्त कातर होकर पुकारो, वे इन शत्रुओं-से तुम्हारी रक्षा करेंगे ॥५॥

हे मन ! तुम सर्वदा प्रकाशमान् कपटता आदि रूप गदहेके गिरते हुए मूत्रमें स्नान कर अपनेको और साथ-दी-साथ मुझे भी क्यों दग्ध कर रहे हो ? ( भाई, ऐसा न करके ) तुम श्रीराधाकृष्णके चरण-कमलोंके प्रति प्रेम-भक्तिरूप उमड़ते हुए समुद्रमें प्रतिदिन स्नान कर अपनेको और साथ-दी-साथ मुझे भी सुखी करो ॥६॥

हे मन ! प्रतिष्ठाकी आशारूप निर्लङ्घ चंद्राल-रमणी मेरे हृदयमें सर्वदा नृत्य करती है । भला वैसे अपवित्र हृदयको परम पवित्र साधुप्रेम कैसे स्पर्श कर सनता है ? अतपव मेरी मुनो, तुम श्रीकृष्णके अतुलनीय ( बलवान् ) सेनापतियोंकी अर्थात् गुहदेव और भक्तोंकी सेवा करो, वे लोग उस प्रतिष्ठाकी आशारूप निर्लङ्घ चंद्राल-रमणीको तुम्हारे हृदयसे बाहर निकाल कर वहाँ साधुप्रेमको घुसा देंगे ॥७॥

हे मन ! तुम इस गोष्ठमें रह कर वैमी व्याकुलताके साथ ( कातरतापूर्ण वचनोंको उच्चारण करते हुए ) श्रीश्रीगिरिधारीजीकी सेवा करो, जिससे वे ( प्रसन्न होकर ) मेरे जैसे अतिशय नीच और दुष्ट व्यक्तिकी भी दुष्टता दूर कर मुझे अपना अति उच्चल प्रेमामृत प्रदान करेंगे और श्रीमती राधिकाकी सेवा करनेके लिये आदेश देंगे ॥८॥

हे मन ! तुम वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्णको मेरी ईश्वरी श्रीराधिकाके ईश्वरके ( नाथके ) रूपमें, श्रीवृन्दावनेश्वरी श्रीराधिकाको अपनी ईश्वरीके रूपमें, श्रीमती ललिताको श्रीमतीराधाकी अतुलनीय प्रियतमा सखीके रूपमें, श्रीमती विशाखाको सब प्रकारकी भजन-शिक्षादात्री गुरुके रूपमें एवं श्रीराधाकृष्ण और श्रीगिरिराज गोबद्धनको श्रीश्रीराधाकृष्णके दर्शनों और उनके प्रेम-विलासके प्रति गाढ़ी रतिदायकके रूपमें निरन्तर स्मरण करो ॥९॥

जो अपने सौन्दर्यकी किरणोंसे मदन-प्रिया रतिदेवी, शिवपति गौरीदेवी और श्रीलीलादेवी ( भगवान्‌की एक शक्ति ) को ताप प्रदान करती हैं, अपने ( प्रियतमकी सबसे अधिक प्रियतमा होनेके ) सौभाग्यसे शाची ( इन्द्राणी ), लद्मी और सत्यभामाको भी पराभूत करती हैं एवं अपने प्रियतमको वशमें करनेवाले अपने स्वभाव-सुलभ वशीकरण धर्म द्वारा चन्द्रावली आदि तरुण व्रजलज्जनाओंको भी मात करती हैं—हे मन ! उन श्रीकृष्णकी सर्वोत्तमा प्रेयसी श्रीमती राधिकाका भजन करो ॥१०॥

हे मन ! तुम अपने गुहदेव श्रीरूप गोस्वामीके साथ ब्रजके गोष्ठमें ललिता आदि सखियों और सुचल आदि सखाओंसे घिरे हुए और एक-दूसरेके प्रति कन्दर्पभावसे विवश हुए श्रीश्रीराधा और गिरिधारीजीकी साक्षात् सेवाको प्राप्त करनेके लिये श्रीगोबद्धनके अवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन और प्रणाम रूप पञ्चामृतका ( श्रीगुरु द्वारा दी गयी ) भजनप्रणाली द्वारा पान करते हुए प्रतिदिन श्रीगोबद्धनकी आराधना करो ॥११॥

जो श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी तथा श्रीजीवगोस्वामी आदि अपने यूथके साथ वर्तमान श्रीरूप गोस्वामीके अनुगत होकर मनके लिये शिक्षाप्रद इन उत्तम ग्यारह श्लोकोंका इनके समस्त प्रकारके यथार्थ अर्थोंको धारणापूर्वक मधुर-स्वरमें जोर-जोरसे कीर्तन करते हैं, वे इसी ब्रजभूमिमें श्रीश्रीराधाकृष्णका अतुलनीय भजनरत्न लाभ करते हैं ।

## कर्मवीरकी फूटी कौड़ियाँ

मनुष्यमें तीन प्रकारकी सत्ताएँ बर्त्तमान हैं। मनुष्यका स्थूल शरीर, उसका मन और स्वयं देही, अर्थात् आत्मा। आत्मा विशुद्ध चेतन है, उसका मन चेतन (चेतनाभास) होनेपर भी अचेतनकी धारणा में सर्वदा व्यस्त रहता है, और स्थूल शरीर विशुद्ध अचेतन है।

चिन्मय आत्माके सच्चन्द्रमें दो प्रकारके मत हैं। पहला यह कि आत्मा और परमात्मा दो नहीं—एक हैं, अज्ञानसे दो जैवा भासते हैं। इसे 'निर्विशेष मत' कहते हैं। दूसरे मतमें आत्मा और परमात्मा का नित्य अभेदत्व अस्तीकार कर उनको परमपर सेवक-सेव्य सम्बन्धसे युक्त 'सविशेष' तत्त्व माना गया है।

आत्मा अपने स्थूल शरीर और विद्याभास मनके आवरणसे मुक्त होनेपर या तो निर्भेद ब्रह्मकी ओर अप्रसर होती है अथवा नित्य भगवत् सेवाको प्राप्त करती है। मनुष्यमें जब तक स्थूल शरीर और मन की सत्ताएँ प्रवल रहती हैं, तब तक वह ज्ञान और भक्तिका आदर नहीं कर सकता। त्रिगुणात्मिका मायाके अशान्तिमय राज्यमें भटकता रहता है। विशुद्ध आत्मा सांसारिक नश्वर कलोंकी कामना नहीं करती, कर भी नहीं सकती; क्योंकि यह ऐसा करने में असमर्थ है। किन्तु अनात्म-प्रकीर्ति प्रवत्त होने पर आत्मधर्मका विपर्यय हो जाता है। ऐसी दशामें मनुष्य देह और मनक ही आत्मा—‘मैं’ मानने लगता है। यही जीवका विवर्त या उसकी भान्ति है।

अनात्म देह और मन कर्मकल भोग करते हैं। मायावद्ध जीव नित्य हरिसेवाकी क्रियाओंको भी जड़ भोगमय कर्मकी थेणीमें मानता है। वाक्तव्यमें अनात्म शरीर-मनके कर्म और हरि-सेवामें आकाश-

पातालका अन्तर है। दोनों समजातीय क्रियाएँ नहीं हैं। वाह्य-दर्शनसे दोनोंकी क्रियाएँ एक सी दीख पहुँचे पर भी यथार्थ दर्शनमें दोनों एक नहीं। जो देह और मनके दायरेमें वन्द हैं, उनके लिये कर्म-मार्गके अतिरिक्त कोई गति नहीं है। वे आत्माको भी स्थूल देह और मनसे अभिन्न मानते हैं। सुतरां वे आत्माकी नित्यवृत्ति—हरिसेवाको स्थूल देह और मनकी क्रिया—कर्मके अतिरिक्त और क्या मान सकते हैं?

हरि-सेवा और कर्ममें अन्तर यह है कि जड़ कर्मका फल अनित्य होता है तथा वह कर्म करने वालेके उद्देश्यसे फल उपलब्ध करता है। किन्तु हरि-सेवा नित्य होती है और इसका फल एकमात्र हरिको मुख प्रदान करना है, अर्थात् हरि-सेवाका उद्देश्य हरिका सन्तोष है। कर्मका फल—सुख-दुःख मिश्रित होता है और हरि सेवाका फल है—सुख-दुःख-दुःखसे अतीत सञ्चिदानन्द-विप्रह श्रीहरिका नित्य-आनन्द विद्यान।

कर्म दो प्रकारका होता है—सत् कर्म और असत्-कर्म या कुकर्म। सात्त्विक कर्मोंको सत्कर्म और राजस तथा तामस कर्मोंको कुकर्म कहते हैं। अतः कर्मी भी हो प्रकारके होते हैं। सत्त्वगुणका अवलम्बन कर सत्कर्म करने वाला सत्कर्मी और रज-तम गुणोंका अवलम्बन कर कुकर्मोंमें रह कुकर्मी। इनको कर्मवीर और कुकर्मवीर भी कहा जा सकता है। सत्कर्मी स्थूल देह और सूक्ष्म मनके प्रति दया भावसे युक्त होता है; किन्तु असत्कर्मी अहंकारमें मत्त और सब समय परहिंसामें तत्त्वर होता है। कुकर्मी अपने स्वार्थ-माध्यनके जिये नाना-प्रकारके पाप कार्योंमें लिप्त रहता है और अपने क्रिये हुए पाप कर्मोंकी वैधता प्रमाणित करनेके लिये असंख्य प्रकारकी युक्तियाँ

उपस्थित करता है। अन्तमें पुण्यमय सात्त्विक कर्मियों के द्वारा लांछित, अपमानित और ताङ्गित होकर कुकर्मोंसे संयत होता है। मनुष्य जब तक देह और मनके द्वारा चालित होकर कुकर्ममें लगा रहता है, तब तक उसमें स्वेच्छाचारिता प्रबल रहती है। इस निरंकुश स्वेच्छाचारिताका दमन करनेके लिये कर्मचीरोंको सत्त्वगुणमें प्रतिष्ठित होना अत्यन्त आव-

पूर्वांक विवेचनका निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रवृत्ति और अहंकारके अधीन होनेपर जीव सत्त्वगुणसे च्युत हो जाता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति—ये दोनों नित्य-आत्मधर्मकी विराधी और अनित्य भावनाएँ हैं। सांसारिक वस्तुओंको प्रदण करना प्रवृत्ति है तथा उनके त्यागको निवृत्ति कहते हैं। ये दोनों वृत्तियाँ नश्वर हैं। इन दोनोंकी सहायतासे चिन्मय तत्त्वकी उपलब्धि नहीं की जा सकती। रज और तम को दूर करना ही सकर्मोंका धर्म है। यही प्रवृत्ति मार्गका रहस्य है।

### निवृत्ति मार्ग और त्रिविध संन्यास

कुकर्मों लोग कहा करते हैं कि वर्णाश्रम धर्ममें चतुर्थाश्रमकी कोई उपयोगिता नहीं है। चतुर्थाश्रमका तात्पर्य संसारसे निवृत्त हुए संन्यासी-सम्प्रदायसे है। संन्यासी तीन प्रकारके होते हैं—कर्म-संन्यासी, ज्ञान-संन्यासी और भक्त-संन्यासी ये तीनों कर्मसे निवृत्त होते हैं। क्यों इनमें देह और मन सम्बन्धी समस्त प्रकारकी चंचलताका अभाव होता है। कर्म-संन्यासी कर्मफलके भोगकी स्वृद्धा नहीं रखता। अतः सर्वदा सांसारिक दुन्दुओंसे अतीत और शान्त होता है। शान्तिमय जीवन ही उसका लक्ष्य होता है।

ज्ञानी कर्म-संन्यासको नित्य अवस्था नहीं, बल्कि अनित्य अवस्था मानता है, उसके फलको नश्वर बतलाता है। अतः निर्भेद ब्रह्मका अनुसंधान ही ज्ञानी को अभीष्ट होता है।

भक्तोंका कथन है—मेद-ज्ञानसे युक्त ज्ञानी ब्रह्म

से अभिन्न होनेकी कामनासे सर्वदा अशान्त रहता है। उनकी बैसी वृत्ति उनके अस्तित्व तकको भिटा देती है। अतः भगवान्की नित्य-सेवाको प्राप्त करना ही संन्यासका चरम उद्देश्य है। इस प्रकार देह और मन रूपी रथून और लिङ्ग शरीरोंके आवरणोंसे मुक्त, भगवान्की नित्यसेवामें प्रविष्ट शुद्ध जीव ही 'भक्त' हैं। भक्तमें समस्त प्रकारकी सांसारिक कामनाओंका अभाव होता है। ये निर्भेद ब्रह्मानुसंधानकी बुटियों से तथा उससे होनेवाली ध्वंसात्मक क्रियाओंसे परिचित होते हैं। अतएव भोग और त्याग—प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंको त्याग कर भगवन्नचरणोंमें शरणागत होते हैं। ऐसे शरणागत भक्त ही बास्तव अर्थोंमें संन्यासी हैं तथा वे ही विषयोंका ठीक-ठीक अर्थोंमें त्याग करनेमें समर्थ होते हैं।

संन्यासी कहनेसे ऐसे व्यक्तियोंका बोध होता है जो सांसारिक विषयोंद्वारा प्राप्त सुखको नश्वर, अस्थिर और दुःखपूर्ण जानकर उन विषयोंकी सेवा न करनेका संकलन कर चुके हैं। यह स्थिति कुकर्मियों की अवज्ञाकी वस्तु नहीं है। वे एक ऐसी सक्रिय अवस्थामें पहुँचे हुए हैं, जिसकी कल्पना कर्मचीर हजार जन्मों तक नहीं कर सकते। अक्रियता की चरम सीमा पर पहुँचे हुए किन्तु अपनेको कर्मचीर कहलानेवाले कुछ लोगोंका कहना यह है कि—संन्यासी-सम्प्रदाय चुपचाप हाथपर हाथ रखे मीज करते हैं। इन्हें अभिकोंके द्वारा उपाजित अन्न-बख्त आदिका व्यवहार करनेका अधिकार नहीं है, अतः हम कर्मचीरोंका कर्त्तव्य है कि संन्यासी सम्प्रदायको इन वस्तुओंके व्यवहारसे बचायें। किन्तु अबोध कर्मचीर यह नहीं जानते कि कर्मसे अवसर प्राप्त ये महाबीर अपने ही संचित कर्मोंका भोग करते हैं; वे नहीं जानते कि संन्यासियोंके संचित अर्थसे ही सारा समाज लालित-पालित होता है, अन्न-जल आदि प्राप्त होकर जीवित है, अन्यथा कर्मचीर-समाजका अस्तित्व ही खतरेमें पड़ जाता। आज बदलेमें उसी जगत्का महान् उपकार करनेवाले परम विरक्त संन्यासी

सम्प्रदायको तथाकथित कर्मचार-दल मुट्ठी भर अब और जीण-आवास देना भी आन्याय समझने लगा है। यह उनकी अकृतज्ञताका ही ज्वलंत उदाहरण है।

संन्यासी समाजके भार नहीं—प्राण हैं। इन्हें भारतीय समाजसे अलग करना शरीरसे प्राणको अलग करना है। प्रणालीन शरीरकी तरह संन्यासी-रहित भारतीय-समाज या संस्कृतिका कोई मूल्य नहीं। कर्मचारोंकी तो यह राय है कि संन्यासी संन्यास-धर्मको छोड़कर पुनः मजदूरी करें, कर्मचार बनें। यह उनकी मूर्खताकी चरम सीमा नहीं तो और क्या है ?

यदि नैतिक हृष्टिकोणसे भी देखा जाय तो समाज त्यागी-सम्प्रदायके द्वारा जितना उपकृत है, जितना फल लाभ करता है, उसके बदले में उसको मुट्ठी भर अब और जीर्ण आवास देकर समाजका भार समझना सरासर अन्याय है। शास्त्रोंकी शिक्षा है—

न बुद्धिभेदं जनयेद्ज्ञानां कर्मसङ्ग्निनाम् । (गीता ३।२६)

सारांश यह कि शरीर और मनकी उदाम चेष्टा-ओंसे ज्ञानशून्य कर्मचारोंकी बुद्धि इतनी कुठित हो जाती है कि उनकी जड़ता दूर करना असंभव हो जाता है। अतः उनकी मूर्खता दूर करनेके लिये तनिक भी प्रयत्न न करो।

हम इन तथाकथित कर्मी-संघों, समाजों और मिशनोंको यह परामर्श देते हैं कि वे अपनी मूर्खता का दिढ़ोरा अधिक न पीटें। उन संघोंके पराडे लोग चतुर्थांशमके प्रतिकूल जिन मूर्खतापूर्ण और असङ्गत युक्तियोंको पेश करेंगे, उन्हें कोई भी बुद्धिमान मनुष्य माननेको तैयार न होगा। यदि समस्त समाज में कर्मीकी ही श्रेष्ठता स्वीकृत होती, तो पृथ्वीके चित्रपटसे ज्ञान और भक्तिके पथ आज कभीके मिट गये होते।

### कर्मचारके कर्मोंकी निष्फलता

कर्मचारके कर्मोंका प्राप्यफल है—संन्यास अर्थात् सर्वस्व-त्याग। जड़ जगत् के इतिहासमें हम ‘मृत्यु’ और ‘निष्फल’ नामक दो अवस्थाओंका अधिष्ठान लहर्य करते हैं। अर्थात् मृत्यु अनिवार्य है, और जिन कर्मोंको कर्मी जगत् अपने सुख्खके लिये बड़ी जगनके साथ करता है, वे एक दिन निष्फल सिद्ध होते हैं। कोई नितना भी बड़ा कर्मचार क्यों न हो, उसे सब कुछ छोड़ कर बलात मरना ही पड़ेगा। विषय-भोगको संकुचित करनेका नाम ही संन्यास है। जिन विषयोंका भोग चिरकाल तक नहीं किया जा सकता, निर्विषयी सम्प्रदाय जिन विषय-भोगोंकी संज्ञा असृत नहीं—‘विष’ दे रखती है, जिन विषयोंका त्याग मृत्युके समय अनिवार्य है, उन्हें समय रहते २ क्यों न त्याग करके असृत-स्वरूप भगवद्-भक्तिका अनुसन्धान किया जाय ?

अस्तु, यथार्थ त्यागी संन्यासी-सम्प्रदायको बाधा देना नियुद्धिताकी चरम सीमा और पाशविक-बलका पदशंन मात्र है। भक्त-संन्यासी समाजके लिये कितना उपकारी है, उसे विषयोंमें आसक्त, संक्षीर्ण बुद्धिवाले तथाकथित कर्मचार लोग समझनेमें असंभव हैं। विषयी लोगोंके साथ प्रतियोगिता करना अथवा उनकी हिसाकरना विरक्तोंका उद्देश्य या धर्म नहीं है। सभ्य मानव समाजमें जबतक द्रव्य और ग्रमके बदले उचित मूल्य लेने-देनेकी नीतिका आदर रहेगा, तबतक समाज चतुर्थांशमी संन्यासी-सम्प्रदाय का कृतज्ञ बना रहेगा तथा उन्हें उचित रूपमें आवश्यक वस्तुएँ तथा उचित सम्मान देनेके लिये बाध्य रहेगा।

—ॐ विष्णुपादं श्रीमद्भक्तिसिद्धांतं सरस्वती

## संग-त्याग

‘उपदेशामृत’ में श्रीरूप गोखामीने लिखा है कि उत्साह, निश्चय, धैर्य, अनुकूल कर्मोंका प्रबर्त्तन, संग-त्याग और सद्बृह्ति (साधु जीवन और साधु प्रवृत्ति) से भक्तिकी उन्नति होती है। इनमें उत्साह, निश्चय, धैर्य और अनुकूल कर्मोंका प्रबर्त्तनके सम्बन्धमें पृथक् पृथक् लेख लिखे गये हैं। प्रस्तुत लेखमें संग-त्यागका तात्पर्य बतलाया जा रहा है।

### कुंसंगके भेद

संग दो प्रकारके होते हैं—संसर्ग और आसक्ति। संसर्ग दो प्रकार के होते हैं—अभक्त-संसर्ग और योषित्-( छो ) संसर्ग। आसक्ति भी दो प्रकारकी होती है अर्थात्, संस्कारासक्ति और द्रव्यासक्ति। भक्ति साधकोंको इन सबका यत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए, अन्यथा ध्वंश अनिवार्य है। गीताका निम्न-लिखित उपदेश सर्वदा स्मरण रखने योग्य है—

सङ्गात् संजायते कामः कामात् कोधोऽनिजायते ।  
कोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृति विभ्रमः ।  
स्मृति-भृशाद् बुद्धि-नाशो बुद्धि-नाशात् प्रशाश्यति ॥

(गी० २।६२-६३)

साधक यदि निषिद्ध संग करता है, तो धौरे-धौरे उसकी ‘आसक्ति’ बढ़ती जाती है। आसक्ति जितनी ही बढ़ती है, परमार्थ-निष्ठा उतनी ही क्षीण होती जाती है। तात्पर्य यह कि जीव चिन्मय पदार्थ है; किन्तु मायाके बंधनमें पड़कर अपना स्वरूप भूल जाता है तथा अनित्य जड़ बस्तुओंमें ‘मैं’ और ‘मेरा’ का अभिमान करने लगता है। शुद्ध अवस्थामें जीवका मायाके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वहाँ ( चिन् जगत्में ) जीवका समस्त संसर्ग ही चिन्मय होता है। अतः उस अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषोंका नित्य संग ही वांछनीय है। मायाबद्ध अवस्थामें जीवोंका संग दूषित होता है। अभक्त-संसर्ग, योषित्-संसर्ग, संस्कारास-

क्ति और द्रव्यासक्ति रूप अविद्याका संग जीवोंके कल्याण-मार्गमें वाधक है। चिन्-संग जीवोंका स्व-जातीय-संग है। अविन्-संग जीवोंके लिये विजातीय संग है। विजातीय-संगसे मुक्त होना ही जीवोंकी मुक्ति है। नीचे विजातीय-संगका विवेचन किया जा रहा है।

### अभक्त-संसर्ग ( ज्ञानी अभक्त है )

इमें सबसे पहले यह विचार करना है कि अभक्त कौन हैं? अभक्त उन लोगोंको कहा जाता है, जो भगवान्‌के अनुगत नहीं होते अर्थात् विमुख होते हैं। ज्ञानवादी पुरुष भगवान्‌के अनुगत नहीं होते। उनका कहना है—‘मैं ज्ञान प्राप्त कर भगवान्‌के बराबर हो जाऊँगा; मैं ही ब्रह्म हूँ, ज्ञान ही सर्वोत्तम वस्तु है। जो ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें भगवान् अपने अधीन नहीं रख सकते। ज्ञान के कारण ही भगवान्‌की ब्रह्मता सिद्ध है और ज्ञानके द्वारा मैं भी स्वयं ब्रह्म हो जाऊँगा।’ अतः जहाँ स्वयं भगवान् बनते अथवा उनके बराबर होने की इच्छा बलवती होती है, वहाँ भगवान्‌की अधीनता कहाँ रही? ज्ञानियोंके सारे प्रयत्न भगवान्‌से स्वतंत्र होनेके लिये ही होते हैं। यह तो हुई ब्रह्म-ज्ञानियोंकी बात; आत्मज्ञानी और प्रकृत ज्ञानी भी भगवत् कृपाकी अपेक्षा नहीं रखते। वे ज्ञान और युक्तिकी महायतासे ही अपनी अभीष्ट वस्तु पानेकी चेष्टा करते हैं। वे भगवत्कृपा प्राप्त करनेके लिये कोई प्रयत्न नहीं करते। अतः समस्त प्रकारके ज्ञानी ही अभक्त श्रेणीमें आ जाते हैं। यथापि कोई-कोई ज्ञानी साधन-कालमें भक्तिपथका अवज्ञन करते हैं, तथापि वे सिद्धि-कालमें भक्तिका विसर्जन कर देते हैं। उनकी किसी भी क्रियामें नित्य-भक्ति अथवा ईशानुगत्यका एक भी लक्षण दिखलाई नहीं पड़ता। सभी प्रकारके ज्ञानियोंके सम्बन्धमें यही बात

लागू है। वे यथार्थ-ज्ञान नहीं प्रत्युत् ज्ञानका आभास मात्र लाभ करते हैं। यथार्थ ज्ञान तो शुद्ध-भक्तिकी एक अवस्था है, जिसे शुद्धभक्तजन केवल भगवत्कृपामें अनायास ही प्राप्त कर लते हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें सनातनको महाप्रभुजीने उपदेश दिया है—

ज्ञानी जीवन्मुक्त-दशा पाइनु करि माने।

वस्तुतः तुदि शुद्ध नहै कृष्ण-भक्ति विने॥

अतएव जो लोग ज्ञानवादके प्रति अद्वा प्रदर्शित करते हैं, उन्हें अभक्तकी ओरामें रक्खा गया है। उनका प्रधान उद्देश्य 'मुक्ति' होता है। भगवत्सेवा द्वारा भगवत्कृपा लाभ करना उनके जीवनका उद्देश्य नहीं होता।

### कर्मी भी अभक्त हैं

कर्मवादी लोग भी भक्त नहीं हैं, अतः अभक्त हैं। जो कर्म केवल भगवत्कृपाको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे किये जाते हैं, उन्हें 'भक्ति' कहते हैं। परन्तु जो कर्म, किसी पार्थिव वस्तु या फल अथवा वहिमुख ज्ञानको उद्देश्य करते हैं, वे 'भगवद्विमुख कर्म' हैं। कर्मीजन केवल कृष्णकृपाका ही, 'अनुसंधान नहों करते। यद्यपि वे कृष्णसे आदरकी इष्टिमे देखते हैं, तथापि उन्हां मूल उद्देश्य सांसारिक सुखोंको ही प्राप्त करना होता है। अपने सुखके उद्देश्यमें किये जाने वाले कर्म ही 'कर्म' कहताते हैं। इसीलिये कर्मी—अभक्त हैं।

### योगी, देव-देवीपूजक, नैयायिक, विषयी

### आदि सभी अभक्त हैं

योगीजन कही-कही ज्ञानका फल-मोक्ष और कर्म का फल—विभूति (ऐश्वर्य) मान कर ज्ञान अथवा कर्मका साधन करते हैं। अतः इनमों भी अभक्त ही कहा जा सकता है।

अनेक देव-देवियोंकी पूजा करनेवाले भी अभक्त हैं, क्यों कि वे अनन्य शरणागत नहीं होते। जो केवल शुद्ध 'न्याय' आदि विचारोंके प्रति अद्वालु होते हैं, वे भी भगवद्विमुख अभक्त हैं। जो लोग भगवान्‌को एक काल्पनिक तत्त्व मानते हैं, उनकी तो

बात ही छोड़िये, जो विषयोंमें अशक्त होनेके कारण भगवान्‌को समरण करनेका अवकाश नहीं पाते, वे भी अभक्त ही हैं। इन सब प्रकारके अभक्तोंके संसर्गसे थोड़े ही समयमें बुद्धि नष्ट हो जाती है और अभक्तोंके सारे दुर्गुण संसर्ग करनेवाले व्यक्तियोंमें प्रवेश कर जाते हैं। यदि किसीको सचमुच ही भक्ति लाभ करना है, तो उसे अभक्त लोगोंका कुसंग अवश्य ही बर्जन करना होगा।

### द्वितीय-संग—योषित-संसर्ग (त्यागियोंके लिये)

योषित् ( खी ) संसर्ग अस्थन्त हानिकारक होता है। श्रीमन्महाप्रभुने श्रीसनातनको शिक्षा दी थी—  
असत्-संग त्याग—एइ वैष्णव आचार।

खी-संगी—एक आस्तु 'कृष्णाभक्त' आर ॥  
( चै० च० म० २२।८४ )

वैष्णव दो प्रकार के होते हैं—गृहस्थ-वैष्णव और त्यागी वैष्णव। गृहस्थ्यागीके लिये किसी भी रूप से संभाषण करना निषेध है। श्रीमन्महा प्रभुजी कहते हैं—

चूद-जीव सब मर्कट वैराग्य करिया।

हृनिद्र्य चराजा तुले 'प्रकृति'-संभाषिया ॥

( चै० च० अ० २ । १२० )

वैष्णवी स्त्रियोंके साथ उनका दयवहार त्यागियोंके लिये आदर्श है—

पूर्ववत् कैल प्रभु सवार मिलन ।

खी-संव दूर हैं ते कैल प्रभु-दर्शन ॥

( चै० च० अ० ११ । ४२ )

### योषित-संग ( गृहस्थों लिये )

गृहस्थ वैष्णवोंके स्मृत्यन्धमें विधि—गृहस्थ व्यक्ति पराई खी या चेश्याका संग न करेंगे। विचाहिता पत्नि के साथ शास्त्र-विधियोंका उल्लंघन कर किसी दूसरे प्रकारका संग न करेंगे। आसक्ति और रूप गुभावका सर्वथा परित्याग करेंगे। स्मार्तजनोंके प्रति शास्त्रोंका यह उपदेश है—

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहसुच्यते ।

तथा हि सहितः सर्वान् पुरुषार्थान् समश्नुते ॥

गृहस्थके लिये गृहणी आवश्यक है। गृहस्थ पुरुष

अपनी गृहणीकी सहायतासे पुरुषार्थोंका साधन करेंगे। साधारण लोगोंके लिये पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। वर्णान्धम सम्बन्धी शास्त्रोंमें जिसे विधि माना गया है, उसे धर्म कहते हैं। निषेधका नाम ही अर्थर्म है। गृहस्थ व्यक्ति गृहिणीकी सहायतासे शास्त्र विधियोंका आचरण और निषेधोंका परित्याग करेंगे। धर्मका आचरण करनेसे जो फल प्राप्त होता है, उसे 'अर्थ' कहते हैं। रूपवा-पैसा, अज्ञादि द्रव्य, पुत्र-कन्या, गो-पशु—यह सब अर्थ है। अर्थको भोग करनेकी कामना ही 'काम' है। अर्थ, धर्म और काम—इन तीनों की समष्टिका नाम 'त्रिवर्ग' है। धर्म-चक्रमें भ्रमण करते हुए जीव त्रिवर्गकी प्राप्तिको ही अपने जीवनका चरम लक्ष्य मानते हैं। त्रिवर्ग ही इनके प्राण हैं। गृहणीके साथ त्रिवर्गको प्राप्त करना ही स्मार्त-गृहस्थका कर्तव्य है। गृहस्थ व्यक्ति दिन-रात ज्ञानके साथ त्रिवर्गके लिये साधन करेंगे। तीर्थ-यात्रा आदि कार्योंमें गृहणी साथ रह सकती हैं। मनुष्यके हृदय में जयतक परमार्थके प्रति रुचि नहीं पैदा हो जाती तबतक त्रिवर्गके अतिरिक्त विशुद्ध-धर्मका साधन वह कैसे कर सकता है?

जीवोंका चतुर्थ पुरुषार्थ है—मोक्ष। मोक्ष दो प्रकारका होता है—पहला 'अत्यन्त दुःखकी निवृत्ति', जिसमें दुःखोंकी सम्पूर्ण रूपसे निवृत्ति हो जाती है और दूसरा 'चिन्तसुखकी प्राप्ति'—जिसमें दुःखोंकी पूर्ण निवृत्ति तो होती ही है, चिन्तसुखकी प्राप्ति भी होती है। शुष्क ज्ञानियों या मायावादियोंका चरम उद्देश्य—'अत्यन्त-दुःख-निवृत्ति' और विशुद्ध ज्ञानियों अर्थात् भक्तोंका—'चिन्त-सुखकी प्राप्ति' होता है। वह भक्त चाहे गृहस्थ हो, अथवा गृह-त्यागी।

### गृहस्थ वैष्णवका कर्तव्य

गृहस्थ वैष्णव अपनी गृहिणीके साथ चिन्त-सुख के उद्देश्यसे ही साधन करेंगे। इस प्रकार समझ कर्मोंका करके भी वह खैण नहीं है। ऐसे जीवनमें योग्यत संगका दोष नहीं आ सकता। अवैद खीके

साथ संभाषण और विवाहिता पत्नीके प्रति अपरमार्थिक खैण-भावका सम्पूर्ण रूपसे त्याग कर देना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें गृहस्थ वैष्णवोंके पात्रनीय कर्तव्योंका निर्देश पाया जाता है—

धर्मस्थ लापवग्स्य नाथोऽर्थायोपकरपते ।

नार्थस्य धर्मैकान्तस्य काम-लाभाय हि स्मृतः ॥

कामस्य नेन्द्रिय श्रीतिर्जुभिः जीवेत यावता ।

जीवस्य तत्त्व-जिज्ञासा नाथों यश्चेह कर्मभिः ॥

अतः पुर्मिद्विज-श्रेष्ठा वर्णाश्रम-विभागाशः ।

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥

तस्मादेकेन मनसा भगवान् साक्षतां पतिः ।

श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ॥

( श्रीमद्भाग ११२४, १०, १३, १४ )

तात्पर्य यह कि २० धर्मशास्त्रोंमें त्रिवर्ग-धर्मका उपदेश है। करुणामय शृणियोंने कर्माधिकारी पुरुषोंके कल्याणके लिये २० धर्मशास्त्र लिखे हैं। कर्म-पुरुषोंका इनमें अधिकार है।

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विचेत यावता ।

मत् कथा अव्यादी वा अद्वा यावत् न जायते ॥

( श्रीमद्भाग ११। २०। ३ )

उपरोक्त श्लोकमें कर्माधिकारमें स्थित पुरुषोंके लिये त्रिवर्गको ही धर्म बतलाया गया है। जो कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त-होनेवाले स्वर्गादि सुखोंसे विरक्त होकर ज्ञानाधिकारमें प्रवेश कर गये हैं, उनके लिये कर्मसाग्रह सम्बन्धी विधि-निषेध आवश्यक नहीं हैं। वे लोग कर्माधिकारकी सीमासे परे शुष्क ज्ञानगत संन्यासके अधिकारी हैं। अन्म-जन्मांतरोंमें उपाजित राशि-राशि सुकृतिके बलसे भगवान्‌की कृपासे जिनकी भगवत् कथाके श्रवण और कीर्तनमें अद्वा होती है, वे कर्माधिकारसे ऊपर होते हैं। ऐसे पुरुष ही वैष्णव कहलानेके योग्य हैं। इनमें गृहस्थ वैष्णव धर्म-आचरण द्वारा जो कुछ अर्थ उपार्जन करते हैं, वह उनकी कामना पूर्तिके लिये नहीं—वैक्षण भक्तिके अनुकूल पवित्र जीवन-यात्रके निर्वाहके साथ-साथ तत्त्व-जिज्ञासामें सहाइक होता है। यहीं पर कर्म

और परमार्थमें भेद है। गृहस्थ-बैषणव जीवन-यात्रा के निर्वाहके लिये बण्डीश्रमोचित धर्मका पालन करते हुए गृहणीके साथ एकमात्र भगवत् कृपाको प्राप्त करने के उद्देश्यसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधन करेंगे। किन्तु जब उनका घर-यार उनके साधनके प्रतिकूल हो जाय, तब उसके प्रति वैराग्य उत्पन्न होने पर वे घर-यार छोड़ देंगे।

त्रिवर्ग धर्मके लिये निर्धारित क्रियाओंका ठीक-ठीक आचरण करनेसे सहसा वैष्णवका चरित्र निर्मल हो जाता है। इस प्रकारके निर्मल चरित्रवाले वैष्णवजन आनन्द शरणागत होकर भगवानके नाम, रूप, गुण और लीलाका अद्वैतवंक अवण, कीर्तन और स्मरण करेंगे। गृहणीके संयोगसे सर्वदा परमार्थके लिये साधन करना गृहस्थ वैष्णवोंका कर्तव्य है। गृहणीको भी पतिकी अनुगमिनी होकर कन्या आदि आन्य खियोंकी सहायतासे परमार्थ का साधन करना उचित है। ऐसा होनेसे खी-पुरुष दोनोंको परम्पर योषित-संगका दोष सर्व नहीं करेगा। अतएव क्या गृहस्थ, क्या गृह-स्थानी, सभी साधकोंके लिये योषित-संग अवश्य ही वर्जनीय है। भक्तजन विशेष यत्पूर्वक ऐसे संसर्गोंसे दूर रहेंगे।

### आसक्ति-रूप कुसंग और उसके भेद

अब असक्तिरूप कुसंगका विचार किया जा रहा है। आसक्ति दो तरहकी होती है—संस्कारासक्ति और जड़ द्रव्यासक्ति। संस्कार दो तरहके होते हैं—प्राक्तन और आधुनिक। जीव मायाके बन्धनमें पड़ कर अनादिकालसे जो ज्ञान और कर्मकी क्रियाएँ कर चुका है, उनके फल-स्वरूप जीवके लिङ्ग-शरीर पर जो संस्कार पैदा होता है, उसे 'प्राक्तन-संस्कार' कहते हैं

इसी संस्कारको स्वभाव कहा जा सकता है। जैसे गीता में कहा गया है—

न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्त्र सूजति ममुः।  
न कर्मफल-संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥  
( गीता ४। १४ )

श्रीबलदेव विद्याभूषण इसे और भी स्पष्ट कर देते हैं—

“अनादि-प्रवृत्ता प्रधान-वासनात्र स्वभाव शब्दे-  
नोक्त-प्रधानिक-देहादिमान् जीवः कारयति कर्ता चेति  
न विविक्तस्य तत्त्वम्” इति—(श्रीबलदेव) माध्यकारः  
पुनः (१८। ६०)—

स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्मणा ।  
कर्तुं नेच्छ्रुत्य यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

ज्ञान-संस्कारको गीतामें स्पष्ट शब्दोंमें बन्धन माना गया है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयं ।  
सुख-सङ्गेन बन्धनाति ज्ञान-सङ्गेन चानघ ॥

श्रीबलदेव विद्याभूषण इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—

“‘ज्ञान्यहं, सुख्यहम्’—इति अभिमानस्तेन पुरुषं  
निबध्नाति ।”

इस प्रकार पूर्व-जन्मोंके कर्म और ज्ञानकी क्रियाओंके अनुरूप संस्कार पैदा होता है। उसी संस्कारके अनुसार आसक्ति और आसक्तिके अनुसार मनुष्यको कर्म अथवा ज्ञान आदिमें रुचि पैदा होती है। पूर्वोक्त श्लोकमें यह दिखलाया गया है कि मायाबादियोंका ज्ञान बन्धन ही है। ( कर्मशः )

—ॐ विष्णुपादं श्रीमद्भक्तिविनोदं ठाकुर

— — — — —

यहे सौभाग्यसे जीवोंमें कृष्णोन्मुखी प्रवृत्तिका उदय होता है। उस कार्यमें जीवकी सहायता करना ही जीव-दयाका एकमात्र परिचय है। जीवोंको कृष्णके उन्मुख कराना ही वैष्णवोंका प्रधान कार्य है। जहाँ पौँचभौतिक शरीरके रोग और ज्ञान आदिकी निवृति ही प्रधान उद्देश्य है, वहाँ वैष्णवताका अभाव समझो।

—ठाकुर भक्तिविनोद

# गीताकी वाणी

## सत्रहवां अध्याय

पूर्व अध्यायमें भगवानने अर्जुनको शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्मका आचरण करनेका उपदेश दिया है। उसे सुन कर अर्जुनको यह जिज्ञासा हुई कि भगवानने इसके पहले (४३६) यह बतलाया है कि अद्वातु व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और अब यह कह रहे हैं कि जो लोग शास्त्रविधिसे नियत कर्मोंको छोड़ कर मनमाने कर्म करते हैं, उनके कर्म व्यर्थ हैं—वे परम गति प्राप्त नहीं कर सकते। किन्तु जो लोग शास्त्रविधिको छोड़ कर परन्तु अद्वापूर्वक यज्ञ, पूजा आदि शुभ कर्म करते हैं, उनकी क्या स्थिति होती है—यह जाननेके लिये उन्होंने भगवान्से पूछा—‘श्रीकृष्ण ! जो लोग शास्त्रविधिको छोड़ कर किन्तु लौकिकी अद्वा से युक्त होकर देव आदिका पूजन करते हैं, उनकी निष्ठा किस कोटि की होती है—सात्त्विकी, राजसी या तामसी ?’

अर्जुनके उपर्युक्त प्रश्नको सुनकर भगवानने बतलाया कि मनुष्यकी स्वभावसे उत्पन्न अद्वा तीन प्रकारकी होती है। सात्त्विकी, राजसी और तामसी। सभी मनुष्योंकी अद्वा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है और जैसो जिसकी अद्वा होती है, वैसा ही उनका स्वरूप होता है, वैसी ही निष्ठा होती है। जीव स्वभावतः निरुण होनेपर भी भगवत्सम्बन्धको भूल कर मायाके गुणोंसे बैंधा होनेके कारण एक संगुण स्वभाव पाया है। इसी स्वभावसे उसका अन्तःकरण गठित हुआ है। इसीका नाम सत्त्व है। इसी सत्त्वकी संशुद्धि (मायिक गुणोंसे मुक्ति) का नाम ही अभय पद है। उसी अन्तःकरण अर्थात् सत्त्वसे उत्पन्न अद्वा ही भक्ति-लताका बीज है। दूसरी तरफ असंशुद्ध (मायाके गुणोंके सम्बन्धसे अशुद्ध) अन्तः-

करणकी अद्वा संगुण होती है। अद्वा जबतक निरुण नहीं होती, तबतक वह कामात्मिका अर्थात् भिन्न-भिन्न कामनाओंसे युक्त होती है। ऐसी कामात्मिका अद्वा तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। सात्त्विकी अद्वासे युक्त मनुष्य देवताओंकी, राजसी यज्ञ-राज्ञोंकी और तामसी लोग भूत-प्रेरोंकी पूजा करते हैं; परन्तु दम्भ, आहङ्कार, कामना, आशक्ति और बलके अभिमानसे युक्त मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित केवल मनःकलित घोर तपका आचरण करते हैं। वे लोग व्यर्थकी उपवास आदि रूप कठिन तपस्या द्वारा शरीरमें स्थित भूत-समुदायको सुखाते हैं और अन्तःशरीरमें स्थित परमात्माको (आथवा भगवान्के विभिन्नांश स्वरूप जीवको) बलेश पहुँचाते हैं। ऐसे मनुष्य आसुरी स्वभाववाले हैं।

मनुष्यके भोजन, यज्ञ दान और तप भी तीन-तीन प्रकारके होते हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। सात्त्विक भोजन आयु, बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाला, रसयुक्त, चिकना, चित्तको स्थिर करनेवाला तथा हितकारक होता है। अतएव यह सात्त्विक मनुष्योंको प्रिय होता है। अधिक कडवा, अधिक खट्टा, अधिक नमकीन, अधिक गरम, अधिक तीखा, अधिक दाहकारक (सरसों आदि) और दुःख चिन्ता तथा रोगोंको बढ़ानेवाला भोजन राजस व्यक्तियोंको प्रिय होता है। यह सब राजस भोज्य पदार्थ हैं और तीन घन्टे पहलेका पकाया हुआ, ठंडा, नीरस, दुर्गम्भपूर्ण, बासी, गुरुजनके अतिरिक्त दूसरोंका उचित एवं मद्य, माँस और मछली आदिका आहार तामस है। सुतरां यह तामस व्यक्तियोंको प्रिय है।

फलकी कामनासे रहित, शास्त्रविधिसे नियत तथा केवल अपना कर्त्तव्य समझ कर किया गया यज्ञ सात्त्विक है। दम्भके साथ अथवा फलके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ राजस हैं तथा शास्त्रविधिसे रहित होकर मनमाने किये जानेवाले यज्ञ तामस हैं।

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनकी पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर का तप है। दूसरोंको उद्देश्य न देनेवाला, सत्य, प्रिय और हितकर चर्चन, वेद-पाठ और अध्यास—यह वाणीका तप है। और मनकी प्रसन्नता, सरलता मौन, मनका निप्रह तथा भावकी संशुद्धि अर्थात् मनकी निष्कपटता—यह मनका तप है। फलकी कामनासे रहित होकर पूर्वोक्त तीनों प्रकारके तप अनुष्ठित होने पर सात्त्विक हैं। जो तप—सत्कार, मान और पूजा आदि प्राप्त करने की इच्छा से दंभके साथ किया जाता है, वह चृणिक और अनिश्चित फलको देनेवाला तप राजस है और जो तप मृड़तापूर्वक अपनेको पीड़ा देकर दूसरोंको दुःख देनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस है।

दान भी तीन प्रकारका होता है। जो दान बदलेमें कुछ पानेकी आशा न रख कर, केवल अपना कर्त्तव्य मानकर उचित देशमें, उचित समयमें, योग्य पात्रको दिया जाता है, वह दान सात्त्विक है। उचित देशका तात्पर्य मथुरा आदि तीर्थ, उचित समयका तात्पर्य चन्द्रप्रहण या सूर्यप्रहण आदि पुण्य-योग और तिथियों और योग्य पात्रका तात्पर्य सदाचार-सम्बन्ध सत्कुलमें उत्पन्न वेदज्ञ ब्राह्मणसे है। ऐसा दान सात्त्विक है। किन्तु जो दान भगवद्भक्तको दिया जाता है, उसका फल भगवद्भक्तिमें श्रद्धा होना है; क्योंकि भगवद्भक्त दानकी वस्तुको भगवान्की

सेवामें लगता है। ऐसा दान सात्त्विक दानसे अनन्त गुन श्रेष्ठ होता है। यह दान निर्गुण होता है।

जो दान क्लेशपूर्वक अथवा बदला पानेकी भावनासे या फलके उद्देश्यसे दिया जाता है, वह राजस है और जो विना सत्कारके अथवा तिरस्कार पूर्वक असमयमें, अयोग्य देशमें तथा कुपात्रको अर्थात् नर्तक, वेश्या, अभावरहित व्यक्तियोंको दिया जाता है, वह दान तामस है।

शास्त्रमें 'ॐ तत् सत्'—ये तीन प्रकारकी ब्रह्म-निर्देशक व्यवस्थाएँ हैं। सबसे पहले वेद ब्राह्मण और यज्ञ रचे गये। इसीलिये ब्रह्मवादी पुरुष 'ॐ'—शब्द-का उच्चारण करके शास्त्रोक्त यज्ञ, दान और तप आदि कियाओंका अनुष्ठान करते हैं। जड़ातीत 'तत्' वस्तु ( ब्रह्म ) को लक्ष्य करके सांसारिक फलोंकी आकांक्षा न रखकर नाना प्रकारकी यज्ञ, तप और दानादि कियाएँ मोहृ चाहनेवाले पुरुषोंके द्वारा की जाती हैं। 'सत्'—शब्दसे ब्रह्म और ब्रह्मवादीका बोध होता है। परमात्माके उद्देश्यसे किया हुआ कर्म भी 'सत्' है। यदि यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्म ब्रह्मके उद्देश्यसे किये जायें तो वह भी 'सत्' है। जड़ीय कर्म जीव-स्वरूपके प्रतिकूल होता है, परन्तु यह कर्म भी ब्रह्म-निष्ठासे युक्त होकर किया जाय तो शुद्ध भक्तिकी प्राप्ति होती है, जिससे जीवका चरम कल्याण साधित होता है। विना अद्वाके किये हुए यज्ञ, दान और तप आदि समस्त शुभकर्म 'असत्' कहलाते हैं। इसलिये इनसे न तो लोकमें कोई फल होता है और न मरनेके बाद स्वर्गादि लोकोंमें ही। अतः मनुष्यको केवल परमेश्वरके लिये ही शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्मोंका आचरण करना चाहिये।

—त्रिविद्यस्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौतीमहाराज

# ज्ञान करें, मैं नास्तिक हूँ

[ श्रीमान् सि० ब्राह्मण साहबके साथ श्रीयुत अभ्यवरण भक्षित-बेदान्तजो ( श्रीभागवत-पश्चिमा ) के सह-कारी सम्पादक-संघके संचारित तथा 'बैक-हू-गौड देव' आंग्रेजी पश्चिमाके सम्पादक का कथोपकथन ]

'मैं नास्तिक हूँ और मुझे भगवान्‌में कठइ विश्वास नहीं है, यदि आप मुझे ज्ञान करें, तो मैं नास्तिक्यवादी ओरसे आपसे कुछ बातचीत करूँ ।'—ब्राह्मण गंभार हाकर कहा ।

'वहो सुशीसे । परन्तु ऐसा नहीं कि आप केवल तर्क-वितर्क करें । मेरी विज्ञान प्रार्थना है, इस कथोप-कथनसे कुछ लाभ उठाया जाय ।'—मैंने नम्रतामें उत्तर किया ।

'धन्यवाद'—ब्राह्मण सिलसिला आरम्भ किया । 'आजका मनुष्य-समाज नास्ति तो जहर है, परन्तु उससे मनुष्य-समाजको बड़ा लाभ है । विशेषतः इसका प्रभाव भारतवर अधिक पड़ा है । इसीमें भारतमें आज चौमुखी उन्नति हो रही है और आगे और भी अधिक होगी । मेरा रुक्षाल है, भारतवा-सियोंकी तरह शायद ही किसी देशके वाशिन्दे भगवद्-विश्वासी हों । इसी अन्ध-विश्वासने भारतकी बड़ी हुर्दश की थी । उसीने भारतको मिट्टीमें मिला दिया । परन्तु जबसे स्वाधीन हुआ है और यहाँ के बड़े-बड़े लिड-रोने इस अन्धविश्वासके प्रति आन्दोलन करना शुरू किया है, तबसे देखिये न, भारतीय उद्योग-धंधों और व्यापारमें तथा जनताके रहन-सहनके स्तरमें कितनी उन्नति हुई है ।'

मैं—'आपके हृषिकोणसे स्वाधीनता भिलनेके बादसे भारतकी तरकी हुई होगी, परन्तु आपना रुक्षाल तो कुछ और ही है । हाँ, नास्तिकताकी उन्नति अवश्य हुई है—हमसे सन्देह नहीं । और जहाँ तक जनताके रहन-सहनके स्तर तथा सुख-समृद्धिका प्रश्न है, मैं कहूँगा, स्वराज्य भिलनेके दस वर्ष पहले भार-

तीयोंको जो सुख-सुविधाएँ प्राप्त थीं, आज स्वराज्य भिलनेके दस वर्ष थार वे सुख-सुविधाएँ लोगोंको नसीब नहीं हैं । भौतिक उन्नति और नथाकथित स्वाधीनता स्थायी सुख-शान्तिके कारण नहीं है । आपके पश्चात्य देशोंमें तो उद्योग-धंधे बहुत दिनों से चालू हैं । अतः आप वहाँ की ही परिस्थितिका कुछ वर्णन करें ।'

ब्राह्म—'पाश्चात्य देशोंमें ही क्यों, विश्वके प्रत्येक देशमें जहाँ की जनता ईसाई-धर्म या दूसरे-धर्मोंके प्रति अपना विश्वास छोड़ती जा रही है, अधिक प्रगति जारीसे बढ़ रही है । मैं तो जोर देकर कहूँगा—धर्म-विश्वास जितना ही दूर होगा, विश्वमें उनी ही जलदी सुख और सम्पत्ति ही वृद्धि होगी । और जबतक यह अंधविश्वास ( भगवान् और धर्मके प्रति ) जारी रहेगा, तबतक वेज्ञानिक और भौतिक विज्ञान नहीं हो सकता है । भगवद्-विश्वास दूर होनेसे विज्ञानकी उन्नति निश्चित है तथा विज्ञानकी उन्नतिके साथ-ही-साथ मनुष्यकी सुख-सम्पत्ति बढ़ेगी ही । अपना रुक्षाल तो यह है कि यदि धर्म-जगत्से अंधविश्वासको दूर कर दिया जाय, तो उस पहलुमें भी कुछ वैज्ञानिक गवेषणा हो सकती है ।'

मैं—'आपका यह कहना कि आप नास्ति हैं एवं भगवान्‌में आपका कन्दू विश्वास नहीं है, विलकूल गलत है । आप जिस विज्ञानकी बात कह रहे हैं, मैं उसी विज्ञानकी बात कह रहा हूँ । भगवत् ज्ञान एक बड़ा ही रहस्यपूर्ण और पूर्ण-विज्ञान है । श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि भगवत् ज्ञान बड़ा ही रहस्यमय और सब प्रकारके विज्ञानोंसे युक्त है । उसके

अनेक प्रकारके विभाग हैं। आपका भौतिक विज्ञान भी उसी भगवत्-ज्ञानका एक विभाग मात्र है। भौतिक विज्ञान, भगवत् ज्ञान तक पहुँचनेका प्राथमिक सोपान मात्र है। भौतिक विज्ञानकी उन्नतिका तात्पर्य क्रमशः भगवान्‌की और आगे बढ़ना है। भगवद्‌गीतामें ज्ञानके सम्बन्धमें कहा गया है कि तत्त्व-ज्ञानकी उपलब्धि ही यथार्थ ज्ञान है। और इसके अतिरिक्त सब कुछ अज्ञान है। दुनियाँकी छोटी से-छोटी वस्तुको ही ले लीजिए। आप उस वस्तुके विषयमें ज्ञान अर्जन करना चाहते हैं। आप उसके प्रत्येक पहलु पर गौरसे विचार करें, उसके प्रत्येक अङ्गका विश्लेषण करें, आपको उस वस्तु-सम्बन्धी ज्ञानकी कोई सीमा नहीं दीख पड़ेगी। मेरे हाथकी काडनेपेनको ही लीजिए। यदि आप इसके सम्बन्धमें पूर्ण-ज्ञान लाभ करना चाहते हैं, तो आपको वर्षों लग जायेंगे, फिर भी पूर्ण ज्ञान शायद ही हो। कलम बनानेकी बात मनुष्यके दिमागमें क्यों आई? कलमका सबसे पहले कौन आविष्कार किया? उसका परिचय क्या है? किन-किन चीजोंसे यह बनी है? वे चीजें कहाँ पायी जाती हैं? किन-किन देशोंमें इसके कारखाने हैं? उन एक-एक कारखानेका इतिहास क्या है? आदि अनेक प्रश्न आपके सामने खड़े हो जायेंगे, जिसके सम्बन्धमें आप हजारों पुस्तकें लिख सकेंगे। परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो यह सब ज्ञान नहीं—कोरा अज्ञान है। यथार्थ ज्ञान और यथार्थ विज्ञानकी तरक्की तभी संभव है, जब मनुष्य-समाजका हृषिकोण भौतिक विज्ञानसे हटकर तत्त्व-वस्तुकी ओर स्थिर होगा। तत्त्व-वस्तु उस मूल वस्तुको कहते हैं, जो समस्त वस्तुओंका मूलाधार वस्तु है, अर्थात् जिस वस्तुसे सब वस्तुओंका जन्म होता है, जिस वस्तुमें सब वस्तुएँ स्थित हैं और अन्तमें जिसमें सब कुछ लय हो जाता है। अतः विज्ञानकी प्रगति उधर ही होना स्वाभाविक है।

आजकल रूसमें विज्ञानकी बहुत कुछ उन्नति हो रही है। रूसी-वैज्ञानिकोंने जो स्पुटनिक-बाल-चन्द्र आविष्कार किया है, उससे हमारा भगवद्-

विश्वास और भी हड़ हो रहा है। यदि एक छोटेसे खिलोने जैसे नक्ली चन्द्रका आविष्कार करने तथा उसे विशाल आकाश मार्गमें घुमानेके लिये इतनी बड़ा विराट वैज्ञानिक प्रक्रियाकी आवश्यकता है, तब आप ही अनुमान करें कि जो ड्यूकि अनन्त शून्यमें असली सूर्य, चन्द्र और तारे आदि अगणित प्रहर-नक्षत्रोंकी सृष्टि करके उनका नियमके अनुसार अपूर्व कुशलतामें संचालन कर रहा है, वह कितना बड़ा वैज्ञानिक है। यदि आप रूसी वैज्ञानिकोंको एक तुच्छ स्पुटनिक आविष्कारके लिये बधाई देते हैं, तो उस पूर्ण वैज्ञानिकोंको बधाई देनेमें अथवा उसके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करनेमें आपको आपत्ति क्यों है? भगवान्‌को मान्यता देना और कुछ नहीं, उनकी अघटनघटनपटीयसी शक्तिके कार्योंको देखकर, वह मुझसे छिपने बड़े हैं, उस इतना ही स्वीकार करलेना है। यदि आप भगवान्‌को स्वीकार लेंगे, तो आपका भौतिक और पारमार्थिक ज्ञान-विज्ञान धीरे-धीरे सरल और सहज रूपसे उत्तम होता जायगा।

ब्राह्म—‘यदि कोई मुझे वैज्ञानिक-हंगसे भगवान्‌का ज्ञान समझा दे और वैज्ञानिक रीतिसे यह समझा दे कि ‘भगवान् है’ तो शायद मैं भी अपना विचार पलट दूँ।’

मैं—‘यदि आप वैज्ञानिक हंगसे भगवान्‌को समझना चाहते हैं, तो आपको भगवत्-तत्त्व-संबन्धी वैज्ञानिकोंके पास जाना पड़ेगा। किसीभी विज्ञानके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त करनेके लिए उस विषयके विशेषज्ञों ( experts ) के निकट शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य है। चिकित्सा-विज्ञानके लिये चिकित्सा-सम्बन्धी विशेषज्ञके पास, इंजिनियरिंग-विज्ञानके लिये इंजिनियरिंग-सम्बन्धी विशेषज्ञके निकट शिक्षा प्राप्त करना जिस प्रकार अनिवार्य हैं, उसी प्रकार भगवद्-विज्ञानका रहस्य अवगत होनेके लिये भगवत् तत्त्व-विदोंके निकट तत्त्वज्ञानकी शिक्षा लेनी आवश्यक है। सन्देहबाद और नास्तिक्यबाद जो आजकल इतनी शीघ्रतामें फैलता जा रहा है, इसका प्रधान कारण भगवद् वैज्ञानिकोंका अभाव है। भगवत्-ज्ञानके

विषयमें विफल मनोरथ होनेके कारण ही नास्तिक्यवादका प्रचार-प्रसार अधिक बढ़ रहा है।

सन् १९१४ के महायुद्धमें जर्मनीमें बहुतसे लोग नास्तिक हो गए। उस महायुद्धमें जर्मनीका एक भी घर ऐसा अबूता न बचा था, जिस घरका एक या दो व्यक्ति युद्धमें शामिल न हुआ हो। प्रत्येक सैनिक-के घरबालोंने गिर्जाघरों या मन्दिरोंमें जाकर भगवान्-से प्रार्थना की कि उसका बेटा अथवा उसका पति या उसका भाई युद्धसे बापस लौट आवे। परन्तु बात कुछ और दुई। अधिकांश लोग युद्धसेवसे नहीं लौटे। युद्ध समाप्त हो गया, फिर भी वे लौटे नहीं। घरबाले रोते पीटते रह गये पर उन्हें शान्ति न मिली और न मिली। उन लोगोंने मन-ही-मन ठीक किया कि परमेश्वर है ही नहीं। यदि परमेश्वर होता तो वह उनकी प्रार्थनाएँ अवश्य सुनता। अतः अधिकांश लोग नास्तिक हो गये।

ऐसे लोग अक्सर भूल जाया करते हैं कि भगवान् परम स्वतन्त्र हैं। वे किसीके नीकर या खानसामा नहीं। उनके विचारसे भगवान् एक प्रकारसे हुक्म तामिल करनेवाला अरदली ( Orderly ) है, जिसे जब जी चाहे, जिस प्रकारसे अपने मन के मुताबिक काम करवा सकते हैं और वह उसी प्रकार उनके मनके मुताबिक हुक्म तामील करनेके लिये वाध्य है। इस प्रकारका भगवत्-ज्ञान तो और कुछ है।

भगवत्-ज्ञानके सम्बन्धमें युक्ति, तर्क और जड़ विज्ञानकी प्रतिष्ठा नहीं है। हाँ, ये कुछ दूर तक उसके साथ दौड़नेका प्रत्यन अवश्य करते हैं, पर हार कर पीछे लौट आते हैं। तर्क-वितर्कसे भगवत्-ज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता। पूर्व-पूर्वके महाजनोंने जिस मार्गसे चलकर भगवान्को समझा है—उनका साज्जाकार किया है, उसी मार्ग पर चल कर हम लोग भी उसे प्राप्त कर सकते हैं। अन्यथा विफल मनोरथ होकर हमें भी एक दिन नास्तिक बनना पड़ेगा। संदेहबाद या नास्तिक्यवादसे आजतक मानव जातिका न तो कोई उपकार हुआ है और न

कभी होने को है। अपको समझना चाहिए कि बिना कारणके कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। अतः इस सुन्दर और विशाल जगत्की रचनामें, उसकी स्थिति में और उसके धर्मसमें अवश्य ही कोई कारण है और सब कारणोंका जो मूल कारण है, वही है दमारे भगवान् ! वैज्ञानिक अनुसंधानकी मांड उद्दीको दृष्टि होनी चाहिए।

यदि मनुष्य समाज इस मूल-कारणका अनुसंधान करनेका प्रयत्न करता, तो वह अवश्य ही नास्तिक्यवादके गढ़में नहीं पिरता। मनुष्यको किसी विषयमें संदेह होना स्वाभाविक है। परन्तु संदेह होनेका तात्पर्य यह नहीं कि हम ऐसा सिद्धान्त कर लें कि—‘भगवान् है ही नहीं। बलिक संदेह पैदा होते ही सत्यानुसंधानी व्यक्तिको चाहिए कि वह भगवत् साज्जाकार किये हुए तत्त्वज्ञानीके निकट जाकर प्रणिपात आदि द्वारा उनकी सेवाकर उनसे ज्ञानके सम्बन्धमें जिज्ञासाकी भावनासे प्रश्न करे। ऐसा होनेपर वे तत्त्वज्ञानका उपदेश कर नास्तिक होनेसे बचा लेंगे।’

ब्राह्म—‘जो भावना हममें प्रकृतिसे अतीत किसी कारण या तत्त्वके प्रति विश्वास ला देती है, मैं तो उसीको धर्म-विश्वास अथवा भगवद् विश्वासका आधार मानता हूँ। मेरी अद्वैतवादमें आस्था है, क्योंकि जगन्में जो भी हश्यमान और अहश्यमान बन्तुएँ हैं तथा जो कुछ पहले हो गया है या होने वाला है—सबका समुदाय ही प्रकृति है। जगत्के सभी धर्म क्रमानुसार परिवर्तनशील हैं। जो व्यक्ति जिस समय जिस धर्मको मानता है, उस समय अपनी सांस्कृतिक उन्नतिके साथ-साथ अपनी धर्म-पद्धतिको भी उन्नत करनेमें प्रयत्नशील होता है। इस प्रकार प्रगतिशील समाजमें धर्म-भावना बदलती रहती है। अतः भगवान् सम्बन्धी भावनाएँ भी समयानुसार बदलती रहती हैं। परम्परासे चलते चारे धर्म-पथ को अक्सर त्याग देनेको कोई भी तैयार नहीं होता। परन्तु प्रगतिके साथ समय आने पर वह धर्म के प्रति अन्ध-विश्वासको छोड़ देनेके लिये वाध्य होता

है। प्रगतिशील व्यक्तियों द्वारा स्वकं धर्मं लुप्तया य हो जाता है। इस प्रकार नश्वर और परिवर्तनशील धर्मभाव अंत तक केवल धार्मिक उत्सव, लौकिक व्यवहार तथा मनोरंजनके साधन भर अवशिष्ट रहते हैं। उनमें तात्त्विक अथवा वैज्ञानिक भाव रत्तीभर भी नहीं रहता। पौराणिक आख्यान, 'अन्धेर नगरी चौपट राजा', जैसी कहानियोंके रूपमें ही वच रहते हैं। सब पूछिये तो धार्मिक-तत्त्व नड़तों अथवा सरल विद्योंको ही रुचिप्रद होता होगा; बुद्धिमान मनुष्य ऐसे-ऐसे धार्मिक प्रपञ्चोंमें शामिल होना पसंद नहीं करते।'

मैं—'आप प्रकृतिसे परे कोई अप्राकृत कारण मानते हैं ?'

ब्राह्म—'क्यों नहीं; अवश्य मानता हूँ।'

मैं—'तब आपको उसके साथ-ही-साथ यह भी मानना पड़ेगा कि आपकी प्राकृत हिन्द्रियाँ उस अप्राकृत कारण अर्थात् विषयमें कोई काम नहीं कर सकती हैं। आप पूछेंगे क्यों ? इसका उत्तर यह है कि प्रस्तुत ज्ञान-संभव करनेके लिये हमारे पास जो औजार (हिन्द्रियाँ) हैं, वे प्राकृत हैं, उनमें भौतिक द्रव्योंका समावेश है। उनके द्वारा अप्राकृत तत्त्व-वस्तुज्ञान उत्पन्नित करना संभव नहीं। प्राकृत हिन्द्रियोंके द्वारा व्यक्तिगत चेष्टासे कुछ प्राप्त करनेको आरोह मार्ग अर्थात् Inductive process कहते हैं। आरोह मार्ग द्वारा केवल प्राकृत-ज्ञान ही प्राप्त किया जासकता है। अप्राकृत ज्ञान तक उसकी पहुँच नहीं है। प्रकृतिसे परेकी वस्तुओंका ज्ञान एक मात्र अवरोह उपाय द्वारा अर्थात् Deductive process द्वारा ही संभव है। मनुष्य मात्र मरणशील है। मातादीन एक मनुष्य है। अतः मातादीन अवश्य ही मरेगा। यदि कोई कुतक करे कि 'मनुष्य मरणशील नहीं है', तो उसको आरोह उपाय से अर्थात् माधारण प्राकृत ज्ञानसे प्रमाणित करना होगा कि ऐसे भी मनुष्य हैं जो मरते नहीं हैं और उसे उस मनुष्यको प्रमाण-स्वरूप दिखलाना पड़ेगा। परन्तु ऐसा कदापि संभव नहीं है। परन्तु दुनियाँके इतिहाससे अथवा परम्परासे सुनते आ रहे

ज्ञानवृद्ध पुरुषोंकी बातोंसे अनायास ही जाना जा सकता है कि 'मनुष्य मात्र मरणशील है'। अतः मातादीन मनुष्य होनेके नाते अवश्य-अवश्य मरेगा—यह यात आपको माननी ही पड़ेगी। इसे 'अवरोह-पथ' कहते हैं। अतएव अवरोह पथमें लम्बापूर्वक निज्ञानकी भावनासे परिप्रश्न द्वारा अप्राकृत ज्ञान प्राप्त होता है। यदि कोई अंधेरी रातमें सूर्यका देखना चाहे, तो वह नहीं देख सकता है। यह विज्ञकुल असम्भव यात है। भौतिक विज्ञान भी रातमें सूर्यको उगा नहीं सकता। परन्तु प्रातःकाल में जब सूर्य अपने निपमके अनुसार पूर्व दिशामें उत्तित होगा, उसी समय उसे देखा जा सकता है। साथ ही सूर्यके प्रकाश द्वारा असेहों तथा दूसरी-दूसरी वस्तुओंको भी देखा जा सकता है। सूर्य, जैसे बहुत दूर रहते हुए भी अपनी छिरणों द्वारा हमें प्रकाश और धूर दान करता है, उसी प्रकार अप्राकृत तत्त्व-वस्तु प्रकृतिसे परे होकर भी कुण करके अपनी रश्मि भेजकर अर्थात् अप्राकृत ज्ञानको जगत्में अवतरण कराकर हमें अप्राकृत ज्ञानमें समृद्ध कर सकती है। ऐसे अप्राकृत ज्ञानमें जिसका अविकार नहीं है, वह भगवत् ज्ञानरूप तत्त्व-ज्ञानके सम्बन्धमें अवश्य ही सन्देहवादी रहेगा। संदेहवादी नास्तिकोंका धर्मनुशीलन एक प्रकारकी कपटता है। उसमें कुछ भी लाभ नहीं।'

ब्राह्म—'मैं तो आपसे पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि प्रकृतिके पार भी यदि कोई वस्तु है, तो वह भी प्रकृतिके ही अन्तर्गत है। आप जिसे अप्राकृत वस्तु कह रहे हैं, क्या वह प्राकृत नहीं है ? मैं आपको पुनः याद दिलाना चाहता हूँ कि मैं अद्वैतवादी हूँ।'

मैं—'आप अद्वैतवादी हैं, यह सुने अच्छी तरह याद है। इस लोग शुद्ध अद्वैतवादका समर्थन करते हैं। इस लोग अद्वैतवादी नहीं, परन्तु अद्वैत-ज्ञानवादी अर्थात् अचिन्तयमेदाभेदवादी हैं। आपका प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान किन्तु ठीक नहीं है। धूम और अग्नि एक साथ रहने पर भी दोनों एक नहीं हैं। जहा प्रकृति अर्थात् अपरा प्रकृति धूमके समान अज्ञान-रूपिणी है तथा परा प्रकृति अग्निके समान

ते जो समय तथा प्रकाश समय ज्ञान सुपिणी है। प्रज्ञवलित अग्निमें जैसे धूम का कोई स्थान नहीं होता; उसी प्रकार परा प्रकृति में अपरा प्रकृतिका कोई स्थान नहीं है। अर्थात् दोनों एक नहीं है, किर भी परा प्रकृति ही अपरा प्रकृतिका मूलाधार है। प्रकृतिका पुरुष से नित्य सम्बन्ध है। पुरुषको विना समझे हुए आपका प्रकृतिका ज्ञान असम्पूर्ण है। पुरुषका प्रकृति के साथ क्या सम्बन्ध है? पुरुष कौन है?—यह समझना ही ज्ञानका यथार्थ परिचय है। जड़ और चेतन एक बहुत नहीं है। प्रकृति जड़ है, परन्तु पुरुष चेतन है। जड़ चेतन से स्वतन्त्र नहीं, अर्थात् मूल चेतनके विना जड़ बहुत ऊँका कोई अस्तित्व नहीं स्वीकृत हो सकता है। किन्तु जड़ कभी चेतन नहीं है। इसीका नाम है—शुद्ध अद्वैतवाद अथवा अद्वय-ज्ञानवाद। अद्वयज्ञानी प्रकृति एवं पुरुषको पृथक्-पृथक् मानकर प्रकृति और पुरुषका परस्पर आदान-प्रदान कैसे होता है—इसे समझनेका प्रयत्न करते हैं। अद्वैतवाद तथा अद्वयज्ञान प्रायः एक सा दीख पढ़ने पर भी एक नहीं हैं। आप लोग अद्वयज्ञानकी विचित्रताको स्वीकार नहीं करते। इसीलिये अद्वयज्ञान भगवान् में सन्देहवादी है। सन्देहवादीको शान्ति नहीं मिलती। आप यदि सन्देहवाद को परित्यागकर शुद्ध-अद्वैत ज्ञान अर्थात् अचिन्त्य दैताद्वैतज्ञानका अनुसंधान करें तो आप अवश्य आनन्द प्राप्त होंगे।

ब्राह्म—‘मेरा रुयाल है, अभी द्वैत-अद्वैतके चक्रकरमें न पड़कर मनुष्य-समाजकी धार्मिक परिस्थितिके सम्बन्धमें कुछ विवेचन होना आवश्यक है।’

मैं—‘साधारणतः धर्म दो प्रकारका है—एक

नित्य-धर्म और दूसरा नैमित्तिक धर्म। जो धर्म कभी बदलता नहीं, उसे नित्यधर्म कहते हैं। परन्तु जो धर्म सब समय बदलता रहता है, उसे नैमित्तिक धर्म कहते हैं। आप जिस धर्मके सम्बन्धमें पहले कह आये हैं, वह बदलनेवाला नैमित्तिक धर्म है। हिन्दू धर्म, मुसलमानी धर्म, इसाई धर्म आदि धर्म-समूह नैमित्तिक धर्म हैं। नैमित्तिक धर्म देश, काल और पात्र के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं तथा परिवर्त्तन-शील परिस्थितियोंके साथ बदलते रहते हैं। कल बहुतसे हिन्दू मुसलमान बन गये, बीदू बन गये, इसाई हो गये, फिर मुसलमान हिन्दू बने, इसाई और बीदू हिन्दू हुए और पुनः हिन्दू बीदू बने। मैं हिन्दुस्तानमें ऐदा होनेके कारण हिन्दू हूँ। इसी प्रकार तुक्की, पारसी तथा इसाई भाई भी हैं। आज देश विभागके कारण एक हिन्दुस्तानी कहलाता है तो दूसरा पाकिस्तानी कहलाता है। हिन्दुस्तानमें रहनेवाले मुसलमान ‘अब भी हिन्दुस्तानी हैं; और पाकिस्तानमें रहनेवाले हिन्दू भी पाकिस्तानी हैं। परन्तु देशका विभाजन धर्मके आधार पर ही हुआ था। अतः बदलनेवाला नैमित्तिक धर्म वास्तव-धर्म नहीं है। नैमित्तिक धर्मका दूसरा नाम जड़-धर्म है तथा नित्य धर्मका दूसरा नाम—आत्म-धर्म है। आत्म-धर्म सर्वदा एक रहता है। जब हम आत्म-धर्ममें प्रतिष्ठित हो जायेंगे, तब हमारे मिलनमें कोई रुक्षावट नहीं रह जायगी। विश्वके समस्त प्राणियों का आत्म-धर्म एक है। इसकी उपलब्धि होने पर मिलनके मार्गमें कोई विघ्न-बाधा आ ही कैसे सकती है?

—परिव्रक्त श्रीयुत अभयचरण भक्तिवेदान्त

## जैवधर्म

[ पूर्व-प्रकाशित चर्चा ३, संख्या ७, पृष्ठ १६८ से आगे ]

सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण वीर्य, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री अर्थात् सौन्दर्य, सम्पूर्ण, ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—इन छः अचिन्त्य गुणोंसे युक्त परम-तत्त्व ही भगवान् हैं।

उपरोक्त गुणोंमें परस्पर अङ्ग-अङ्गीका सम्बन्ध है। प्रश्न होता है—इनमेंसे कौन गुण अङ्गी-गुण है और और कौन-कौन गुण अङ्ग हैं? अङ्गी उसे कहते हैं जिसमें अन्यान्य अङ्गोंका समावेश होता है। उदाहरण-के लिये वृक्ष अङ्गी है और डाल-पत्ते अङ्ग हैं, शरीर अङ्गी है, हाथ पैर उसके अङ्ग हैं। अतः अङ्गी-गुण वह है, जिसमें शेष गुण-समूह अङ्गोंके रूपमें न्यस्त रहते हैं। भगवान्-के चिन्मय-विग्रहकी श्री (रूप) ही—अङ्गी-गुण है और ऐश्वर्य, वीर्य तथा यश—ये तीन गुण अङ्ग हैं। शेष ज्ञान और वैराग्य ये दो यश नामक गुणकी उत्तोति-स्वरूप अवस्थित हैं। क्योंकि ज्ञान और वैराग्य स्वयं गुण नहीं हैं, बल्कि गुणके गुण हैं। यही ज्ञान-वैराग्य—निर्विकार ज्ञान अर्थात् निर्विशेष निराकार ब्रह्मका स्वरूप है। अतएव ब्रह्म—चिन्मय ब्रह्मगणकी अङ्गकान्ति अर्थात् उत्तोति है। निर्विकार, निर्विक्षय, अवयव-रहित निर्विशेष ब्रह्म—स्वयं कोई सिद्ध-तत्त्व नहीं, प्रत्युत् भगवान्-के श्रीविग्रह-का आश्रित-तत्त्व है अर्थात् ब्रह्म वस्तु नहीं—वस्तुका गुण है। भगवान् द्वी वह वस्तु है और ब्रह्म उनका गुण है; जैसे-अग्निका प्रकाश सिद्ध-तत्त्व नहीं है—वह अग्निके स्वरूपके अधीन एक गुण मात्र है।

ब्रजनाथ—‘वेदोंमें जगह-जगह ब्रह्मके निर्विशेष गुणका उल्लेख कर अन्तमें सब जगह उँ शान्तिः,

शान्तिः, हरिः ॐ—इस मन्त्रमें जिस श्रीहरिको सर्वो-तम तत्त्व बतलाया गया है, वे श्रीहरि कौन है?’

बाबाजी—‘चिल्लीता-मिथुन राधाकृष्ण ही वे हरि हैं।’

ब्रजनाथ—‘इस विषयमें मैं बीछे पूँछूँगा, अभी यह बतलाइये कि जगत्-पिता परमात्मा भगवान्-के अंश कैसे हैं?’

बाबाजी—‘भगवान् अपने ऐश्वर्य और वीर्य इन दो गुणोंसे व्याप होकर अखिल विश्वकी रचना करते हैं और अपने एक अंशसे विष्णुके रूपमें उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं। भगवान्-का प्रत्येक अंश सर्वदा पर्यां ही रहता है, उनका कोई भी अंश अपूर्ण नहीं होता—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदत्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ (क) ॥

( वृहदारण्यक ४-१ )

अतएव जगत्-में प्रविष्ट, पूर्णस्वरूप, जगन्नियन्ता विष्णु ही परमात्मा हैं। इन विष्णुके तीन रूप हैं—कारणोदशाची विष्णु, क्षीरोदशाची विष्णु और गर्भोदशाची विष्णु। चित् और मायिक दोनों जगतोंके बीचमें कारण समुद्र अर्थात् विरजा फैला हुआ है। इसी कारण-समुद्रमें भगवदंश कारणोदशाची (कारण-समुद्रमें शयन करनेवाले) विष्णु विराजमान होकर दूर स्थित मायाके प्रति इच्छा (हृषि) कर उससे मायिक जगत्-की रचना करवाते हैं। श्रीगीता ( ६।१० ) में भगवान् श्रीकृष्णने जगत्-सुष्ठिके विषयमें इस प्रकार वर्णन किया है—

( क ) यह अवतारी पुरुष पूर्ण है और उससे निकला यह अवतार भी पूर्ण है। पूर्णसे पूर्ण ही आर्थिभूत होता है तथा पूर्णसे पूर्ण निकाल लेने पर पूर्ण ही अवशेष रहता है। परमेश्वरकी पूर्णताकी किसी ग्रकार भी हानि नहीं पहुँचती है।

'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूक्ष्मे सच्चाचरम् ।' (क)

बेदोंमें भी ऐसा ही कहा गया है—

'स ऐच्छत्' (ऐतरीय १।१।१) (ज)

'स इमान् लोकान् असृजत्' (ऐत० १।१।२) (ग)

मायामें प्रविष्ट कारणोदशायी विष्णुकी ईक्षणशक्ति ही गर्भोदरायी-विष्णु है। उन्हीं महाविष्णुके चिदोक्षणगत किरण-परमाणु-समूह ही बहुजीव हैं। इनमेंमें प्रत्येक जीवके हृदयमें महाविष्णु अपने पक्ष अंशमें अग्नूठेके बाबार रूपमें विराजमान हैं। गर्भोदरायी विष्णुके इस अंशका नाम लीरोदशायी हिरण्यगर्भ ईश्वर या परमात्मा है। श्वेताश्वतर उपनिषदमें 'द्वा सुपर्णा सायुजा सवाया' (श्व० ४।६) मन्त्रके द्वारा जीवोंके हृदयमें प्रविष्ट इन्हों परमात्मा और जीवकी स्थितिकी तुलना एक ही ढाँच पर बैठे हुए दो पक्षियोंसे दी गई है, जिनमें ईश्वररूप पक्षी—कर्मफलका दाता है और जीवरूप पक्षी—कर्मफलका भोक्ता है। गीतोपनिषदमें भगवान्ने इस तत्त्वकी अभिव्यक्ति इस प्रकारसे की है—

यद्यद्विभुविमत्-सत्त्वं श्रीमद्भिंतमेव च ।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽश-सम्भवः ॥

अथवा यहुन्तेन कि ज्ञातेन तवानुन ।

विष्टभ्याहमिदं कृस्त्वमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ (घ)

(गीता १०।४२-४२)

(क) मुझ अधिष्ठाताकी अध्यक्षतामें मेरी मायाशक्ति चराचर विश्वकी सूष्टि करती है।

(ख) उसी परमात्माने ईच्छा किया था।

(ग) उस परमात्माने ही अपनी मायाके प्रति ईच्छा कर चराचर जगत्की सृष्टि की है।

(घ) अजुन ! ऐश्वर्य, सम्पत्ति, चल और पराक्रम आदिके प्रभावसे जो-जो अेष्ट वस्तुएँ हैं, उनको मेरे तेजके अंशसे निकली हुई विभूति ही समझो। अथवा हे अजुन ! तुम्हें मेरी इन सम्पूर्ण विभूतियोंको पृथक्-पृथक् जाननेकी आवश्यकता ही क्या है, तुम केवल मात्र यही जान रखो कि मैं अपने अंशके द्वारा इस सम्पूर्ण विश्वको खारण करके पूर्णरूपसे व्याप्त होकर स्थित हूँ।

(ङ) गोपक्षमें उत्पन्न एक बालकको देखा, जिसका कभी भी पतन (विनाश) नहीं है। वह कभी अत्यन्त निकट और कभी दूर नाना पथोंमें विचरण करता है। कभी-कभी वह भिज्ज-भिज्ज प्रकारके वस्त्रोंसे सुसज्जित रहता है, तो कभी पृथक्-पृथक् (एक रंगके) वस्त्रोंसे आवृत रहता है। इस प्रकार वह संसारमें बार बार अपनी प्रकट और अप्रकट लीलाओंको प्रकाश करता है।

'अतएव परम पुरुष भगवान्के अंश-स्वरूप परमात्माके एक अंशमें विश्वजनकत्व, विश्वपालकत्व आदि ईश्वरता प्रकाशित है।'

ब्रजनाथ—'मैं पूरी तरहसे समझ गया कि ब्रह्म—श्रीहरिकी अङ्गकान्ति हैं और परमात्मा—उनके अंश हैं। किन्तु वे भगवान् श्रीहरि ही स्वयं कृष्ण हैं—इसका क्या प्रमाण है ?'

बाबाजी—'भगवान् सर्वदा ऐश्वर्य और माधुर्य इन दो रूपोंमें नित्य प्रकाशित हैं। ऐश्वर्य प्रकाशका नाम नारायण है, जो महाविष्णुके अंशी और परम्परोम—बैकुण्ठके पति हैं। भगवान्के माधुर्य प्रकाशका नाम श्रीकृष्ण है। ये श्रीकृष्ण अखिल माधुर्यकी सीमा हैं। उनमें माधुर्यकी इतनी अधिकता है कि उनका सम्पूर्ण ऐश्वर्य उनके माधुर्यकी किरणोंसे ढका रहता है। सिद्धान्ततः नारायण और कृष्णमें कोई भेद नहीं है, परन्तु चिज्जगत्के रसास्वादनका जहाँ विचार उपस्थित होता है, वहाँ कृष्ण समस्त रसोंके आधार तो हैं ही, अधिकन्तु वे स्वयं रस होनेके कारण परम उपादेय तत्त्व भी हैं। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् श्रीहरि हैं—इसका प्रमाण बेद, उपनिषद् और पुराण हैं। जैसे—

ऋग्वेद (१।१।३४३१ च४) में—

'अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिनिश्वरन्तम् ।

स सधीचीः स विषुचीर्वसान आवरीवर्ति-भूवनेष्वन्तः ॥(ङ)

छान्दोऽग्नि उपनिषद् ( ८।३।१ ) में—

श्यामाच्छब्दं प्रपदे शब्दलाच्छामं प्रपदे । (क)

इत्यादि मुक्तिके अनन्तर भी शुद्ध जीवोंकी क्रिया-  
का उल्लेख है ।

श्रीमद्भागवत् ( १।३।२८ ) में—

एते चांश-कला: पुः सः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् । (ख)

श्रीगीतोपनिषद् ( ३।७ ) में—

मतः परतरं नास्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय । (ग)

गोपालतापनी ( पूर्व राद ) में—

'एकोवशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा  
योऽवभाति ।' ( घ )

ब्रजनाथ—'श्रीकृष्ण तो मध्यमाकार ( मनुष्यके  
समान आकारवाले ) हैं; वे सर्वव्यापी कैसे हो  
सकते हैं ? उनका शरीर माननेसे उनको एक ही  
जगह आबद्ध करना है तथा ऐसा होनेसे अनेक दोष  
आ जाते हैं । पहला यह कि उनका शरीर होनेसे  
वे सर्वव्यापी तत्त्व नहीं हो सकते । दूसरा यह कि  
उनको गुणोंके अधीन होना पड़ेगा । फिर वे स्वेच्छा-  
मय सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कहाँ रहे ? अतः इसका समाधान  
क्या है ?'

वाचाजी—'वेटा ! तुम अभी मायिक गुणोंसे  
बँधे होनेके कारण ऐसा सोच रहे हो । बुद्धि जब-  
तक मायिक गुणों द्वारा बँधी हुई रहती है, तबतक

( क ) कृष्ण-सेवा द्वारा विवित विलासोंसे पूर्ण अग्रहत चिदानन्दमय भासकी प्राप्ति होती है तथा विविध  
विचिन्ताओंसे पूर्ण उस चित् जगत्से कृष्णकी प्राप्ति होती है । 'श्याम' शब्दका अर्थ कृष्णसे है । तापर्य यह कि  
'कृष्ण' अर्थात् 'काला' कहनेसे रंगहीन—निर्गुण परतत्त्वका बोध होता है एवं 'शब्द' शब्दका अर्थ 'गौर' है  
अर्थात् नाना प्रकारके रंगोंसे युक्त अथवा समस्त रंगोंके मिश्रणका नाम 'गौर' है । इसको दूसरे शब्दोंमें ऐसे कह  
सकते हैं कि समस्त अप्रकृत गुणोंसे युक्त पर-तत्त्वका नाम 'गौर' है । अतएव उपरोक्त संत्रका गृह आश्रय यह है कि  
कृष्ण-भजनसे गौरकी और गौर-भजनसे कृष्णकी प्राप्ति होती है ।

( ख ) राम, नूसिंह आदि अवतार-समूह परम पुरुष भगवान्के अंश या कला है, किन्तु कृष्ण ही स्वयं  
भगवान् है ।

( ग ) अजु॒न ! मुझसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है ।

( घ ) एकमात्र सबको वशमें करनेवाले सर्वव्यापी अद्वितीय परब्रह्म श्रीकृष्ण देव, मनुष्य आदि प्राणिमात्र  
के पूजनीय हैं । वे एक होते हुए भी अपनी अचिन्त्य-शक्तिके प्रभावसे अनेक रूपोंमें प्रकाशित होते हैं तथा नाना-प्रकार  
से विलास करते हैं ।

वह शुद्ध-सत्त्वको स्पृशी नहीं कर सकती । यदि वैसी  
बुद्धि अपनी मीमांसा उल्लंघन कर शुद्ध-तत्त्व विवे-  
चन करनेका प्रयास करती है, तो शुद्ध तत्त्वमें मायिक  
आकार और मायिक गुणका आरोपकर उसकी एक  
प्राकृत भूति गढ़ लेती है । फिर कुछ समयके बाद  
उस मूलिको अनित्य विकारी तथा गुणोंके अधीन जान  
कर उसको त्याग देती है और निराकार निर्विशेष  
ब्रह्मकी कल्पना करती है । इस प्रकार परम तत्त्व  
तक वह पहुँच नहीं पाती । तुमने चिन्मय 'मध्यमा-  
कार' के सम्बन्धमें जो-जो दोष बतलाये हैं, वास्तवमें  
वे सब सर्वथा निराधार हैं । निराकार, निर्विकार और  
निष्क्रिय—ये सब गुण मायिक गुणोंके विपरीत भाव  
हैं । परन्तु ये भी एक प्रकारके गुण ही हैं । और  
सुन्दर, प्रसन्न-बदन, कमल-नयन, शान्तिप्रद-चरण-  
कमल, कला और विलासके उपभोगी आंग-प्रत्यंगादि  
शुद्ध चिन्मय-स्वरूपात्मक चिद्-विप्रहृत्वभी एक प्रकारके  
गुण हैं । इन दोनों प्रकारके गुणोंके आधार-स्वरूप  
'मध्यमाकार' श्रीविग्रह अतिशय उपादेय होते हैं ।  
नारदपञ्चरात्रमें श्रीविग्रहका अत्यन्त मनोरम और  
सुमिद्धान्तपूर्ण विवेचन दिया गया है —

निर्देष-गुण-विग्रह आत्म तन्त्रो,

निश्चेतनात्मक-शरीर-गुणैश्च हीनः ।

आनन्दमात्र-कर-पाद- मुखोदरादिः

सर्वत्र च स्वरूप-भेद-गिर्जितात्मा ॥

अधीन, श्रीकृष्णका विप्रह सच्चिदानन्दमय है। उसमें जड़-गुणोंका गंध तक भी नहीं है। वे जड़ीय देश और कालके अधीन नहीं हैं। बल्कि वे सब समयोंमें सर्वत्र समान रूपसे विराजमान हैं। वे अखण्ड और अद्वय-ज्ञान-स्वरूप वस्तु हैं। जड़ जगत् में 'दिक्' आसीम वस्तु है। पर्थिव विचारसे निराकार वस्तु ही आसीम या सर्वव्यापी हो सकती है, 'मध्यमाकार' (आकारयुक्त) वस्तु सर्वव्यापी नहीं हो सकती। यह विचार केवल जड़ जगत् में ही चालू हो सकता है। चित्-जगत् में सभी वस्तुएँ—सभी धर्म आसीम होते हैं। अतः 'मध्यमाकार' श्री विप्रह भी सर्वव्यापी हैं। सर्वव्यापकता एक प्रकारका गुण है, जो जड़ जगत्के 'मध्यमाकार' वस्तुमें नहीं होती। किन्तु वही सर्वव्यापकता श्रीकृष्णके मध्यमाकार विप्रहमें सुन्दर रूपमें वर्तमान रहती है—उनके विप्रह का यह आलौकिक धर्म है। यही उस चिद् विप्रह का माहात्म्य है। क्या यह माहात्म्य सर्वव्यापी ब्रह्मभावमें पाया जा सकता है? जड़ पदार्थ—देश और कालके अधीन होते हैं। कालधर्मसे स्वभावतः मुक्त पदार्थको यदि दिव्देश और कालके अधीन सर्वव्यापी आकाशके समान ही माना गया, तो कालातीत पदार्थका महत्व ही क्या रहा? कृष्णका ब्रजधाम ही छान्दोग्योपनिषद् का 'ब्रह्मपुर' है। वह ब्रजधाम सम्पूर्ण चिद् वस्तु (अप्राकृत तत्त्व) है। उसमें सब तरफकी चिद् गत विचित्रताएँ वर्त्तमान हैं। वहाँकी मिट्ठी, जल, नद, नदी, पर्वत, वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, आकाश, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि सारी वस्तुएँ चिन्मय हैं। वहाँ पर जड़ीय दोष चिलकुल नहीं हैं। वहाँ पर सर्वत्र और सर्वदा चित्-सुख परिपूर्ण रूपसे विराजमान रहता है। वेटा! यह मायापुर नवद्वीप भी वही चिन्मय धाम है। परन्तु तुमलोग माया-जालके ऊपर खड़े होनेके कारण इस चिन्मय धामको स्पर्श नहीं कर पा रहे हो। साधु-संतोंकी कृपासे जब तुम्हारे हृदयमें चिद् भाव

उद्दित हो जायेंगे, तब तुमलोग भी इस भूमिको चिन्मय धामके रूपमें दर्शन कर सकोगे और तभी तुम लोगोंका ब्रजवास सिद्ध होगा। मध्यमाकार होनेसे पर्थिव गुण और दोष रहेंगे ही—ऐसा तुमको किसने बतलाया? जबतक तुम्हारी बुद्धि जड़ीय संस्कारोंके अन्धनमें बँधी हुई है, तुम 'चिन्मय मध्यमाकार' श्रीविप्रहका यथार्थ महत्व उपलब्ध नहीं कर सकते।'

ब्रजनाथ—'बाबा जी महाशय! जब श्रीराधाकृष्ण का विप्रह, उनकी कान्ति, शरीर, लीला, सहचर, सहचरी, गृह, कुंज, बन और उपवन आदि सारी वस्तुएँ चिन्मय हैं, तब कोइ भी बुद्धिमान मनुष्य उनके सम्बन्धमें संदेह नहीं कर सकता। परन्तु मैं जानना चाहता हूँ कि कृष्णका चिन्मय विप्रह, उनका धाम और उनकी लीला क्या, कहाँ और किस प्रकार प्रकाशित होते हैं?'

बाबा जी—'सर्व-शक्तिमान श्रीकृष्णके लिये सारी असंभव बातें भी संभव हैं—इसमें आश्चर्यकी बात नहीं है। वे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, स्वेच्छामय, लीलामय और सर्वशक्तिमान् पुरुष हैं। इच्छा होनेसे वे अपने चिन्मय धामके साथ अपना स्वप्रकाश चिन्मय विप्रह इस प्रपञ्चमें प्रकाश कर सकते हैं—इसमें संदेह ही क्या है?'

ब्रजनाथ—'इच्छा करनेसे वे सब कुछ कर सकते हैं, अपने चिन्मय विप्रहको इस प्रपञ्चमें प्रकाश कर सकते हैं—यह ठीक है। परन्तु संदेह तो यह है कि संसारी लोग उस स्वप्रकाश चिन्मय धामको जड़ विश्वका एक खण्ड भाग और ब्रजलीलाको साधारण मायिक व्यवहार जैसा देखते हैं—इसका क्या कारण है? यदि कृष्णने कृपा करके अपनेको संसारमें प्रकाशित ही किया है, तब संसारी लोग उस स्वप्रकाश विप्रहको सच्चिदानन्द क्यों नहीं दर्शन करते?

( क्रमशः )

## अचिन्त्यभेदाभेद

[ पूर्व-प्रकाशित चर्चा ३, संख्या ७, पृष्ठ १६३ से आगे ]

हमें विद्याविनोदके इस वक्तव्यपर अत्यन्त आश्चर्य हो रहा है। क्या उन्होंने जीव गोस्वामी द्वारा रचित सर्व-सम्बादिनी-प्रन्थको देखा नहीं है? तत्त्व-सन्दर्भ, भगवत्-सन्दर्भ, परमात्मा-सन्दर्भ और कृष्ण-सन्दर्भ—इन चारों सन्दर्भोंमें टीका-स्वरूप यह एक अत्यन्त उपादेय प्रन्थ है। इस प्रन्थमें 'कोऽपि तद्वाच्यवः' शब्दके अन्तर्गत 'वृद्धवैष्णवैः' शब्दकी व्याख्यामें श्रीजीवगोस्वामीने स्वयं श्रीमध्वाचार्यका नाम स्पष्टाक्षरांमें लिखा है। ये एक भविष्यत्-दर्शी और उच्चकोटिके महात्मा थे। इन्होंने पहले ही अनुमान कर लिया था कि कुछ समयके बाद पाखंडी और असुर स्वभाववाले व्यक्ति मेरे इस 'वृद्धवैष्णवैः' पदका मनमाना कर्त्त्व कर जगत्‌को भूल पथपर ले जायेंगे। इसीलिये उन्होंने स्वयं सर्वसम्बादिनी-प्रन्थमें उक्तपदका तात्पर्य स्पष्ट करके लिख दिया। हम उनकी व्याख्याको ज्यों-का-त्यों नीचे उद्धृत करते हैं—

“‘कोऽपि’ ति—‘वृद्धवैष्णवैः’ श्रीरामानुज-‘मध्वाचार्य-श्रीवरस्वाम्यादिभिर्विलिपितं तद्वृत्त्यर्थः। अनेन स्व-कपोल-कलिपत्रं निरस्तम् ॥”

अर्थात् ‘तत्त्व-सन्दर्भ’ में ‘कोऽपि’ शब्दके ‘वृद्धवैष्णवैः’ पदका तात्पर्य—श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य और श्रीधरस्वामी आदिसे है। इन आचार्योंके द्वारा लिखे गये सिद्धान्तोंकी पर्यालोचना करके ही तत्त्व-सन्दर्भ नामक प्रन्थ लिखा गया है। भावार्थ यह कि इस प्रन्थमें स्वकपोल-कलिपत्र सिद्धान्त नहीं हैं।†

श्रीबुक्त रसिकमोहन विद्याभूषण द्वारा सम्पादित १३२० बंगालदमें साहित्य-परिषद् मंदिरसे रामकमलसिंह द्वारा प्रकाशित ‘सर्वसम्बादिनी’ प्रन्थके पृष्ठ ४ में।

श्रीजीव गोस्वामी कृत सर्व-सम्बादिनी, बंगोय साहित्य परिषद् मंदिरसे १३२७ बंगालदमें प्रकाशित, पृष्ठ १७४-१७५, श्रीसिकमोहन विद्याभूषण द्वारा सम्पादित।

उपरोक्त श्रीजीवपादकी टीकाके प्रति मैं पाठकोंकी हास्त्रिविशेष रूपके आकर्षण करता हूँ। हमसे पाठक अच्छी तरह समझ जायेंगे कि विद्याविनोद महाशय कितने बड़े लोक-प्रतारक और श्रीबलदेव विद्याभूषण-के प्रति कितने बड़े अपराधी हैं। मेरे कथनका तात्पर्य यह है कि श्रीजीवपाद और श्रीबलदेव भूषण महोदय-की टीकाओंमें कठई पार्थक्य नहीं है। श्रीबलदेव विद्याभूषणने ‘वृद्धवैष्णवैः’ पदका अर्थ संक्षेपमें ‘श्रीमध्वादि’ लिखा है और जीव गोस्वामीने उस ‘आदि’—शब्दको और भी स्पष्ट कर श्रीरामानुज, मध्वाचार्य और श्रीधरस्वामी तीनोंका नाम भी दे दिया है। बलदेव प्रभुने मध्व + ‘आदि’ के ‘आदि’ शब्द द्वारा श्रीरामानुज और श्रीधर स्वामीका उल्लेख नहीं किया है—क्या यही समझना होगा? श्रीजीव-गोस्वामीने ‘वृद्धवैष्णवैः—शब्दा द्वारा मध्यमणि-स्वरूप मध्वाचार्यका ही विशेषरूपसे उल्लेख किया है। रामानुज, मध्वाचार्य और श्रीधर स्वामी तीनोंके नाम सर्व-सम्बादिनीमें लिखा होनेपर भी मध्वाचार्यका नाम मध्यमें होनेके कारण उन्हें ही मध्यमणि समझना होगा। ‘श्रीधरस्वम्यादि’ अर्थात् ‘श्रीधरस्वामी + आदि’ में ‘आदि’ शब्दसे रूप-सनातनका बोध होता है। मैंने पहले ही बतलाया है कि बलदेव विद्याभूषण प्रभुने श्रीराम-सनातनको ‘तत्त्व-विद्वत्तम्’ कह कर प्रणाम किया है। श्रीरामानुज और श्रीधरस्वामीको ‘आदि’ शब्दसे इंगित कर केवलमात्र मध्वाचार्यका ही नाम उल्लेख करनेसे बलदेव विद्याभूषणकी श्रीमध्वा-

चार्यके प्रति अत्यन्त आसक्ति और प्रगाढ़ अद्वाका ही परिचय मिलता है—ऐसा दोष लगाना युक्तिसंगत नहीं है। विद्याविनोद महाशयने अपने 'बाद' प्रन्थमें (पृष्ठ २४ की पंक्ति १६-१७ में) इस प्रकार लिखा है—‘गौड़ीय सम्प्रदायको मध्य-सम्प्रदायके अन्तर्गत करनेके लिये बलदेव विद्याभूषणका अत्यन्त आप्रह दीख पड़ता है।’ इत्यादि। हमारा कहना यह है कि यदि बलदेव विद्याभूषणका किसी विषयमें अत्यन्त आप्रह है, तो वह जगत्के कल्याणके ही लिये है, परन्तु विद्याविनोद महाशयका यदि वैष्णवताके नामपर गुरुद्वैहिता और चरित्रहीनता आदि भ्रष्टाचारोंका समर्थन करने और बलदेव विद्याभूषण प्रभुका नाम गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदायकी गुरुपरम्परासे मिटा देनेके प्रयासोंके प्रति अधिक आप्रह है, तो उनका यह आप्रह जगत्के लिये बहुत ही अहितकर है। श्रीचैतन्य महाप्रभुका प्रेम-धर्म अखिल विश्वमें प्रचारित हो—इसके लिये एक महापुरुषका शुभ आप्रह और उस प्रेम-धर्मको ध्वंस करनेके लिये एक पास्तरणीका दुराप्रह—कभी एक नहीं हो सकता। युक्तिके लिये यदि ऐसा मान भी लिया जाय कि मध्वाचार्यका नाम उल्लेख करनेमें बलदेव प्रभुका अत्यन्त आप्रह हुआ है, तो मैं कहूँगा, उनका वैसा आप्रह सुन्दरानन्द विद्याविनोद और अनन्त बासुदेव (पुरीदास) जैसे पाखरियोंका दलन करनेके लिये ही हुआ है। इससे बलदेव विद्याभूषणकी असीम द्यात्रुताका ही परिचय मिलता है। विद्याविनोदका बटाच अत्यन्त अभ्रत, आपत्तिजनक, अशिलतापूर्ण तथा महा अपराधजनक है। ऐसे-ऐसे वैष्णवापराधोंसे विश्वकी रक्षाके लिये ही हम उनके द्वारा लिखित अस्पृश्य, अभ्रात्र, और अपाठच्य प्रन्थका प्रतिवाद करनेको चाष्य हुए हैं। हम श्रीश्री हरि-गुरु-वैष्णवके चरणोंमें विनम्र होकर प्रार्थना करते हैं कि ऐसी पुस्तकों समालोचना द्वारा हम पर दुःसंगका असर न पढ़े।

विद्याविनोद महाशयने श्रीजीवपाद और बलदेव विद्याभूषणकी टीकामें परस्पर पार्थक्य है—ऐसा लिखा है। परन्तु यदि वे दोनोंकी टीकाओंको पास-

पास उछूत करते तो हम उनकी सत्त साहसिकताका परिचय पाते। उन्होंने तो जान-बूझ कर ही ऐसा किया है, क्योंकि ऐसा करनेसे उनकी कलाई सुल जाती और उनका असत् उद्देश्य पूरा नहीं होता।

सच बात तो यह है कि दोनों की टीकाओंमें जरा भी अन्तर नहीं है। हाँ, मैं यह बात स्वीकार करता हूँ कि जीव गोस्वामीकी टीकामें कुछ अधिक अक्षर अवश्य हैं। परन्तु दोनोंका तात्पर्य फिर भी एक ही है। मध्वाचार्यका नाम लिखा जाना ही अत्यन्त आप्रहका साक्षण्य नहीं है। श्रीजीव पादने ‘वृद्धवैष्णवैः पदका अर्थ जहाँ “श्रीरामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और श्रीधरस्वामी” लिखा है, वहाँ बलदेव प्रभुने संचेपमें मध्यके एक ही नाम ‘मध्वाचार्य’ का ही उल्लेख किया है तथा उनके नामके आगे ‘आदि’ शब्द लगाकर अवशिष्ट दो वृद्ध वैष्णव श्रीरामानुजाचार्य और श्रीधरस्वामीको लद्य किया है। अब पाठक ही विचार करें कि दोनोंकी टीकाओंमें क्या अन्तर है? जैसा भी हो, हम इसी जगह सुन्दरानन्द महाशयकी आपत्ति ‘ख’ की आलोचना समाप्त करते हैं।

### स्व-सम्प्रदाय सहस्राधिदैव और संसारार्णवतरणी

आपत्ति नं० (ग) में विद्या विनोद महाशयने एक और आपत्ति उठाई है, जिसे पढ़कर हँसी आती है। हम उसे नीचे उछूत करते हैं—

“(ग)—सर्व-सम्वादिनीके प्रारम्भमें श्रीजीव-पादने गोरक्षरिको ‘स्व-सम्प्रदाय-सहस्राधिदैव’ कहा है। श्रीबलदेवने गोविन्द भाष्यकी टीकामें और ग्रन्थस्त्रावलीके मङ्गलाचरणमें आनन्दतीर्थ मध्वाचार्यको ‘संसारार्णवतरणी’ स्वरूप बर्णन कर श्रीगोरहरिको मध्वसम्प्रदायके अन्तर्गत माना है।”

--( अचिन्तयमेदाभेदवाद पृ० ६४२ )

यहाँ श्रीजीवपादके ‘स्व-सम्प्रदाय-सहस्राधिदैव’ और श्रीबलदेवके ‘संसारार्णवतरणी’—इन दोनों शब्दोंमें परस्पर पार्थक्य दिखलाना ही सुन्दरानन्दका उद्देश्य है। यदि ऐसे-ऐसे भेद ही मतभेद अथवा

संप्रदायकी विभिन्नता निरूपणके कारण मान लिये जाँय तो किसी भी आचार्यके साथ उनके शिष्य या प्रशिष्य-आचार्योंका साम्य अथवा ऐक्य किसी प्रकार भी स्थापित नहीं किया जा सकता है। अद्वैतवादी आदि विरुद्ध सम्प्रदायोंके कुछ विद्वानोंने भी श्रीजीव-गोस्वामी और श्रीरूप गोस्वामीके विचारोंमें विरोध-का आरोप लगाया है। वे ही क्यों, हरिदास बाबाजी, और अनन्त बासुदेव जैसे सहजिया श्रेणीके वैष्णवों ने भी उक्त आरोपका समर्थन किया है। जो जीव-गोस्वामी श्रीरूपके नितांत प्रिय और अनुगत शिष्य थे, वे श्रीरूप गोस्वामीके विचारोंकी अवलोका कर एक पृथक् मत 'स्वकीयवाद' स्थापित किये हैं—आज इस तरहके गन्डे विचार भी 'वाद' प्रन्थके लेखक जैसे विद्वानोंके मस्तिष्कमें प्रवेश कर गये हैं। सुन्दरानन्दने अपने 'अचिन्त्यमेदाभेद' में श्रीरूप गोस्वामी, श्रीजीव गोस्वामी, श्रीकृष्ण गोस्वामी, आदि आचार्योंको भिन्न-भिन्न सम्प्रदायका नहीं माना है—यद्यपि उनमें परस्पर प्रचुर मत-वैशिष्ट्य है, पर भेद नहीं है। भेद और वैशिष्ट्य एक नहीं। भेद वस्तुओं-को अलग करता है और वैशिष्ट्य वस्तुमें ही रह कर उस वस्तुको और भी उद्घल कर देता है।

एक बात और है। सर्वसम्बादिनी-प्रन्थमें श्रील जीव पादने स्वयं भगवान् श्रीमन्महाप्रभु गौर-सुन्दर को 'स्व-सम्प्रदाय सहस्राधिदैव' कहा है। इसके द्वारा श्रीमन्महाप्रभुका माहात्म्य प्रकाश करना ही जीव

गोस्वामीको अभीष्ट है। अतएव यदि श्रीबलदेव विद्याभूपण प्रभु द्वारा वर्णित श्रीमन्महाप्रभुका माहात्म्य श्री जीवपादके द्वारा लिखे गये माहात्म्यसे किसी भी अंशमें कम होता तो, ऐसा कहना युक्तिसंगत माना जा सकता था कि बलदेव विद्याभूपण और श्रीजीव-पादसे विचारोंमें अन्तर है। किन्तु वात ऐसी नहीं है। यहाँ तो बलदेव प्रभु द्वारा सेवक तत्त्व—भगवद्गुरुका मध्याचार्यकी महिमा प्रकाशित करनेके लिये 'संसारार्णवतरणी'—शब्दके व्यवहारसे पार्थक्यका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बल्कि यह जोरपूर्वक कहा जा सकता है कि श्रीबलदेवने श्रीजीवपादसे किसी भी क्षेत्रमें महाप्रभुका माहात्म्य कम नहीं प्रकाशित किया है; अधिकन्तु कहाँ-कहाँ वे इस विषयमें जीव-गोस्वामीसे भी आगे बढ़े हुए दीख पड़ते हैं। इसे हम विद्याविनोद महाशय द्वारा कथित गोविन्दभाष्य की टीकाके मंगलाचरणके श्लोक द्वारा ही प्रमाणित करेंगे, जिसे उन्होंने जान-बूझ कर ही 'वाद' प्रन्थमें उद्भूत नहीं किया है। यद्यपि उन्होंने अपने 'वाद' प्रन्थमें स्वयं ही लिखा है—'श्रीबलदेव विद्याभूपण महोदयके अत्याप्रहको और जीवगोस्वामीकी विचारधाराको पास-पास रखकर विचार करनेसे प्रकृत इतिहासका पता लग सकता है।'—ऐसा लिखने पर भी उन्होंने जान-बूझकर ऐसा नहीं किया है। यदि वे ऐसा करते तो उनका पर्दाफाश हो जाता। धन्य है उनका सहास ! और धन्य है उनकी लेखन चातुरी !

( क्रमशः )

### ॥ श्रीश्रीगुरुगौराङ्गी जयतः ॥ श्रीव्यास-पूजा ( गुरुरूजा ) का आह्वान

श्रीबद्रारण गौड़ीयमठ, चुचुड़ा ( हुगली ) प. बंग

प्रिय महानुभाव,

श्रीव्यासाभिन्न जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्री श्रीमद्भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामीकी आविभाव-तिथि-पूजाके उपलक्षमें श्रीगौड़ीय-वेदान्त समितिके उद्योगसे उपरोक्त ठिकाने पर आगामी २४ मार्च, ७ फरवरी, शुक्रवारसे २५ मार्च, ८ फरवरी, शनिवार तक दो दिन श्रीश्रीव्यासपूजा ( गुरु-पूजा ) का विराट अनुष्ठान होगा। प्रतिदिन हरि-संकीर्तन, प्रवचन, भाषण, अज्ञान-प्रदान आदि इस महोक्त्वके प्रधान अङ्ग हैं।

प्रायंता है, आप इष्ट-मित्रों तथा बन्धुजनोंके साथ पधार कर भक्ति-उन्मुखी सुकृति अर्जन करें।

निवेदक—श्री गौड़ीय-वेदान्त-समितिके सभ्यवृन्द